ओ३म्

सूक्ति-निधिः

स्मरणीय - मन्त्रश्लोकादीनां विषयानुसारः सानुवादः सङ्ग्रहः

संकलयिताऽनुवादकः प्रकाशकः

सत्यानन्द - वेदवागीशः

महाभारत-काल के अनुपम नीतिज्ञ
सत्यवक्ता निर्भीक वाग्मी



महात्मा विदुर

निवेदनम् (प्रथम आवृत्ति)

'उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता-पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे वर्तना इन बातों के मन्त्र, श्लोक, गद्य, पद्य भी अर्थ-सहित (बालकों को) कण्ठस्थ करावें' (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास)।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के बालशिक्षा के विषय में निर्दिष्ट इन वचनों से प्रेरणा पाकर, मैंने एक ऐसा सङ्ग्रह सङ्कलित करने का सङ्कल्प किया था, जो आज प्रकाशित होकर आपके हाथों में पहुँचा है। इस सङ्ग्रह में ८० से अधिक विषयों पर लगभग ९५० सूक्तियों का समावेश हुआ है। जिनमें मन्त्र, श्लोक तथा गद्य सम्मिलित हैं। अन्त में प्रार्थना, गीत और गीतिका भी दी गई हैं। प्राय: सभी सूक्तियों के स्रोत-स्थलों के पते दिये गये हैं। जिनके स्रोत का ज्ञान नहीं हो सका है, उन्हें वैसे ही दे दिया गया है। सुविधा-हेतु अन्त में सूक्तियों के आद्य शब्दों की वर्णानुक्रम-सूची भी दी गई है। सूक्तियों के अनुवाद में शब्दार्थ की अपेक्षा भावार्थ पर अधिक ध्यान दिया गया है।

यह सङ्कलन, बालकों को श्लोकादि कण्ठस्थ कराने में विशेष लाभकारी होगा। गुरुकुलों के ब्रह्मचारी और संस्कृत के अन्य विद्यार्थी भी, निबन्ध-व्याख्यान आदि की सज्जा में इससे भरपूर सहायता ले सकेंगे। पुरोहित, उपदेशक तथा प्रवचनकर्त्ता महानुभावों के लिये भी यह उपयोगी सिद्ध होगा। संस्कृत से अनभिज्ञ जन भी, हिन्दी-अनुवाद मात्र को पढ़कर भी इससे आत्मोत्थान में साहाय्य प्राप्त करेंगे।

इसके निर्माण में श्री समादरणीय पं. भीमसेन जी वेदवागीश सत्प्रेरणा करते रहे हैं, तदर्थ मैं उन्हें सादर स्मरण करता हूँ। इसके प्रकाशन का भार, वेदधर्मप्रचारसमिति (बीकानेर) ने उठाकर मुझे चिन्तामुक्त किया। एतदर्थ मैं, समिति के सञ्चालकों एवं बीकानेर के अग्निहोत्री स्वामीबन्धुओं का विशेष आभारी हूँ। श्री डॉ. जयकृष्णजी पँवार तथा श्री डॉ. शिवनारायणजी आर्य का भी धन्यवाद करता हूँ।

सूक्ति-निधि के मुद्रणकाल में मुझे पर्याप्त समय तक बीकानेर रहना पड़ा। इस अन्तराल में श्री रामनारायण जी स्वामी तथा उनकी धर्मपत्नी अथक आतिथेयी अ.सौ. श्रीमती कौशल्या बहिनजी ने आवास, भोजन तथा अन्य अत्युपयोगी सहयोग की उत्तम व्यवस्था की। श्री चि. सुभाष (एम.ए.,एम.एड्.), अ.सौ. निधि (एम.एस्सी.) तथा पुत्री आयु. सीमा (एम.एस्सी.) ने भी तत्परता के साथ सेवा-सुविधा प्रदान की। परमपिता परमेश्वर इन सबको सर्वविध ऐहिक एवं पारलौकिक सुख प्रदान करें।

निवेदक

पौषी पौर्णमासी २०४८ वि.

सत्यानन्द वेदवागीश

विषयानुक्रमणिका

ईश्वरः	९
जीवात्मा	१६
ज्ञानम्	२०
कर्म	२२
आरोग्यम्	२७
भोजनम्	२९
जलम्	३२
वेगाऽधारणम्	३२
शोधनम्	३३
निद्रा	३३
ब्रह्मचर्यम्	३६
व्यायामः	३७
श्रद्धा	३९
धर्मः	४१
धृतिः (धैर्यम्)	४७
क्षमा	४९
दमः	४०
अस्तेयम्	५२
शौचम्	५३
इन्द्रियनिग्रहः	५६
धीः	५८
विद्या	६३
सत्यम्	६७
अक्रोधः	६९
अहिंसा	७१
दया	७५
आचारः (शीलम्)	७६
दीर्घायुष्यम्	७९
अभयम्	८१
सत्पुरुषाः	८३
आचार्यः (गुरुः)	८८
पण्डितः	९०
आर्यः	९३
भारतवर्षम्	९५
सन्ध्या, जपः	९६
यज्ञः (अग्निहोत्रम्)	९७
शिष्यः (विद्यार्थी)	९९
शिष्टाचारः	१०२
माता, पिता	१०५
परिवारः	१०६
दम्पतीकर्त्तव्यम्	१०८
पुत्रः	१०९
गृहस्थाश्रमः	११०
विवाहः	१११
प्रातर्जागरणम्	१११
पतिः	११२
पत्नी	११३
नारी	११६
अतिथिः	११८
दानम्	१२१
धनम्	१२३
लोभत्यागः	१२८
वानप्रस्थः	१२९
संन्यासी	१३१
वेदाः	१३२
मैत्री	१३४
वैराग्यम्	१३९
योगः	१४४
प्राणायामः	१४८
सन्तोषः	१४९
तपः	१५१
स्वाध्यायः	१५३
मोक्षः	१५५
परोपकारः	१५८
उद्यमः	१५९
यशः	१६०
संगठनम्	१६२
कृतज्ञता	१६३

सुखानि	१६४
सभा	१६६
तेजस्विता	१६७
सत्सङ्गतिः	१६८
उत्साहः	१६८
कालमहत्त्वम्	१६९
जीवितसाफल्यम्	१६९
मदनिषेधः	१७०
विवेकः	१७०
पराक्रमः	१७१
स्वाधीनता	१७२
गुणमहत्त्वम्	१७३
अभिवादनम्	१७४

प्रकीर्णानि–१७४-१९३

श्रेयसः पन्थाः, संसारो गुरुः, दीर्घकालपर्यन्तं स्थायीनि, परीक्षा, दुरात्म-महात्मनोः परिज्ञानम्, किं वरम् ? विद्याधर्मधनवृद्धेर्हेतुः, कस्य किं नश्यति ? स्निग्ध-कर्म-स्त्री-मतिमत्-श्री-सुखि-मित्र-पुरुषलक्षणानि, त्याज्या जनाः, व्यवहारे वर्जनीया जनाः, गृहे प्रतिवासयितुमयोग्याः, कः किं प्राप्नोति ? किं को हन्ति ? अवमान-सम्माने प्रति भावः, कुत्र को नियोक्तव्यः ? विवेक-योग-धर्म-कर्मणां सत्यस्वरूपम्, केन किं रक्ष्यते ? अन्ते सुखकारिणः, अतिदुःखेप्ययाचनीयाः, स्त्रियः प्रति व्यवहारः, अनर्थानां भाजनम्, केन किं न जेयम् ? किं केन नश्यति ? दुर्जनः परिहर्त्तव्यः, पुण्यकृद्भिः प्राप्तव्यानि पुत्रकलत्रमित्राणि, लाभाऽसुखहानिनिपुणताशूरादीनां सत्य-स्वरूपम्, मायाविषु मायिनां विजयः, एकम्, द्वे, त्रीणि, चत्वारि, पञ्च, षट्, सप्त, अष्टौ, नव, दश, मृत्योरनिवार्यता, कार्यसिद्धिकराणि तत्त्वानि, आश्चर्यम्, भ्रान्तिः, तपोदमक्षमाह्रीणां लक्षणानि, मुदितः कः ? संसारस्यैका वार्त्ता, क्षान्त्यादीनां तीव्रता, अभिमानः सर्वहारी, जीवितसाफल्यम्, तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो !, भजत भो मनुजाः परमेश्वरम् ।

प्रार्थना...	१९३
गीतम्...	१९४
गीतिका...	१९५
सूक्तिवर्णानुक्रमणिका...	१९६-२०५

सूक्ति–महिमा

१. सुव्याहृतानि सूक्तानि, सुकृतानि ततस्तत: ।
सञ्चिन्वन् धीर आसीत, शिलाहारी शिलं यथा ॥
(महाभा.उ. ३४.३३)

२. घर्मार्त्तं न तथा सुशीतलजलै: स्नानं न मुक्तावली ।
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ॥
प्रीत्या सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतस:,
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥ (हि.मि. ९७)

---

१. धैर्यवान् मनुष्य उत्तम प्रकार से प्रकट की गई सूक्तियों का और पुण्य कर्मों का जहाँ तहाँ से उसी प्रकार सञ्चय करता रहे, जैसे वनस्थ (खेतों में इधर उधर से) गेहूँ आदि की बालियों का सङ्ग्रह करता है ।

२. गर्मी से दु:खी मनुष्य को ठण्डे जल से स्नान करना या मोतियों की माला पहिनना अथवा पूरे शरीर पर सुगन्धित चन्दन का लेप करना भी उतना सुख नहीं पहुँचाता, जितना कि मनुष्य के चित्त को, पुण्यात्माओं को आकृष्ट करने में मन्त्र के समान प्रभावकारी, सज्जनों की वे सूक्तियाँ जो उत्तम प्रकार से प्रेमपूर्वक प्रस्तुत की गई हों; सुख पहुँचाती हैं ।

संक्षेप-परिचयः

अ.स्मृ.	अत्रिस्मृतिः
अथर्व.	अथर्ववेदसंहिता
ऋ.	ऋग्वेदसंहिता
कठो.	कठोपनिषद्
काम.	कामन्दकनीतिसारः
किरा.	किरातार्जुनीयम्
कुमार.	कुमारसम्भवम्
क्षेम.	क्षेमकुतूहलम्
च.चि.	चरकसंहिता (चिकित्सास्थानम्)
च.नि.	चरकसंहिता (निदानस्थानम्)
च.वि.	चरकसंहिता (विमानस्थानम्)
च.शा.	चरकसंहिता (शारीरस्थानम्)
च.सि.	चरकसंहिता (सिद्धिस्थानम्)
च.सू.	चरकसंहिता (सूत्रस्थानम्)
चर्पट.	चर्पट-पञ्जरिका
जाबा.	जाबालोपनिषद्
तै.आ.	तैत्तिरीयारण्यकम्
तैत्ति.	तैत्तिरीयोपनिषद्
दक्ष.	दक्षस्मृतिः
नि.	निरुक्तम्
नीति.	नीतिशतकम्
न्यायकु.	न्यायकुसुमाञ्जलिः
पं.	पञ्चतन्त्रम्
प्र.सौ.	प्रकृति-सौन्दर्यम् (नाटकम्)
प्रबो.	प्रबोधचन्द्रोदयम् (नाटकम्)
भाग.	भागवत-पुराणम्
भोज.	भोजप्रबन्धः
मनु.	मनुस्मृतिः
महा.अनु.	महाभारतम् (अनुशासनपर्व)
महा.आदि.	महाभारतम् (आदिपर्व)
महा.आ.	महाभारतम् (आश्रमवासि.)
महा.उ.	महाभारतम् (उद्योगपर्व)
महा.क.	महाभारतम् (कर्णपर्व)
महा.भी.	महाभारतम् (भीष्मपर्व)
महा.वन.	महाभारतम् (वनपर्व)
महा.शा.	महाभारतम् (शान्तिपर्व)
माधव.	माधवनिदानम्
मुण्डक.	मुण्डकोपनिषद्
मुद्रा.	मुद्राराक्षसम् (नाटकम्)
मोहमु.	मोहमुद्गरः
यजु.	यजुर्वेदसंहिता
यो.द.	योगदर्शनम्
वाल्मी.अ.	वाल्मीकिरामायणम् (अयोध्याकाण्डम्)
वाल्मी.कि.	वाल्मीकिरामायणम् (किष्किन्धाकाण्डम्)
वाल्मी.यु.	वाल्मीकिरामायणम् (युद्धकाण्डम्)
वाल्मी.सु.	वाल्मीकिरामायणम् (सुन्दरकाण्डम्)
विवे.	विवेकचूडामणिः
वैराग्य.	वैराग्यशतकम्
व्या.भा.	व्यासभाष्यम्
शत.	शतपथब्राह्मणम्
शाण्डि.	शाण्डिल्योपनिषद्
शार्ङ्ग.	शार्ङ्गधरसंहिता
शृ.	शृङ्गारशतकम्
श्वे.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सं.वि.	संस्कारविधिः
सं.शि.	संस्कृतशिक्षा
सु.चि.	सुश्रुतसंहिता (चिकित्सा.)
सु.सू.	सुश्रुतसंहिता (सूत्रस्थानम्)
हि.प्र.	हितोपदेशः (प्रस्तावना)
हि.मि.	हितोपदेशः (मित्रलाभः)
हि.वि.	हितोपदेशः (विग्रहः)
हि.स.	हितोपदेशः (सन्धिः)
हि.सु.	हितोपदेशः (सुहृद्भेदः)

ईश्वर:

१. ओ३म् य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवा: ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्यु: कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

२. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व: स्तभितं येन नाक: ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमान: कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋ. १०.१२१.२,५)

३. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य: ॥ (यजु.४०.८)

४. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ॥
(ऋ.१.१६४.४६)

---

१. जो आत्मा को शरीर में स्थापित करने वाला और बल-प्रदाता है; जिसकी सब विद्वान् लोग उपासना करते हैं और जिसके अनुशासन को मानते हैं । जिसकी शरण ही मोक्ष है और जिसकी भक्ति न करना ही मृत्यु है; उस सुखस्वरूप दाता ईश्वर की हम प्रेम से भक्ति करें ।

२. जिसने उग्रस्वरूप वाले सूर्यादि को और भूमि को धारण किया है, जिसने सुख को और मोक्ष को व्यवस्थित किया है । जो आकाश में सब लोकों को विशिष्ट उचित दूरी पर नियमित करने वाला है, उस सुखस्वरूप दाता ईश्वर की हम प्रेम से भक्ति करें ।

३. वह ईश्वर सर्वव्यापक, शीघ्रकारी शक्तिमान्, शरीर-रहित, छिद्रादि-रहित, नसनाड़ी आदि रहित, शुद्ध और निष्पाप है । वह सर्वज्ञ, सब के मन का ज्ञाता, सर्वव्यापक और स्वयंसिद्ध है । वही अपनी सनातन प्रजा के लिये सभी पदार्थों की यथार्थरूप से रचना और व्यवस्था करता है ।

४. उस एक अग्नि (अग्रणी ईश्वर) को ही ज्ञानी लोग अनेक नामों से पुकारते हैं । उसे ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा भी कहते हैं ।

५. सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ (अथर्व.१३.४.४)

६. प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥

७. एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥
(मनु.१२.१२२,१२३)

८. अनन्तनामधेयाय सर्वाकारविधायिने ।
समस्तमन्त्रवाच्याय विश्वैकपतये नमः ॥ ( )

९. ओ३म् अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥
(ऋ.१०.४८.५)

१०. स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन ।
अग्ने त्रातारममृतं मियेध्य यजिष्ठं हव्यवाहन ॥ (ऋ.१.४४.५)

---

५. वह सर्वोत्पादक ईश्वर ही अर्यमा, वरुण, रुद्र और महादेव है । वह महान् इन्द्र ईश्वर किरणों से परिपूर्ण इस आकाश को तथा ज्ञानरश्मियों से पूर्ण हृदयाकाश को सब ओर से व्याप्त करके इसको निरन्तर जानता है ।

६. उस परम पुरुष परमात्मा को सबका प्रशासक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, प्रीतिदायक प्रकाशवाला और समाधि-प्रज्ञा से अनुभव करने योग्य समझना चाहिये ।

७. उस परमात्मा को कोई अग्नि और मनु कहते हैं, दूसरे उसे प्रजापति कहते हैं तथा अन्य लोग उसे इन्द्र, प्राण और सनातन ब्रह्म भी कहते हैं ।

८. अनन्त नामधारी, जगत् के सब पदार्थों को आकृति प्रदान करने वाले और सम्पूर्ण मन्त्रों के मुख्य विषय, उस संसार के स्वामी ईश्वर को हमारा नमस्कार है ।

९. मैं ईश्वर ही ऐश्वर्यशाली (इन्द्र) हूँ । मैं अपने ऐश्वर्य को किसी अन्य से पराभूत नहीं होने देता हूँ । मैं कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता । हे मनुष्यो ! रचनात्मक कार्य करते हुए ही, मुझसे ऐश्वर्य मांगो । मेरी मित्रता में रहते हुए तुम कभी दुःखी नहीं होओगे ।

१०. हे सम्पूर्ण विश्व के अविनाशी, पालक, दुःखों के निवारक तथा हव्य पदार्थों के प्राप्त कराने वाले ज्ञानमय परमेश्वर ! मैं रक्षक, अमृतमय और सर्वदाता तुम्हारी सदा स्तुति करूंगा ।

११. नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् ।
न किरेवा यथा त्वम् ॥ (ऋ.४.३०.१)

१२. अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम् ।
प्रेमन्धः ख्यन् निः श्रोणो भूत् ॥ (ऋ.८.७९.२)

१३. वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥
(यजु.३२.८)

१४. एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठो.१.३.१२)

१५. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(कठो.२.२.१२)

१६. न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ (श्वे.४.२०)

---

११. हे वृत्रों (दुर्गुणों और दुष्टों के) नाशक ईश्वर ! संसार में कोई भी न तो तुमसे बढ़कर है, न तुमसे बड़ा है और न तुम्हारे समान है ।

१२. जो सोम (सर्वोत्पादक प्रेरक) ईश्वर नग्न को ढकता है और सम्पूर्ण रोगियों को स्वस्थ करता है, उसी की कृपा से अन्धा भी देखने लगता है और लंगड़ा भी चलने लगता है ।

१३. जो ईश्वर सम्पूर्ण विश्व के लिये एक समान आश्रयस्थल है, बुद्धिरूपी गुफा में स्थित उस परमेश्वर को ज्ञानवान् ही साक्षात् अनुभव करता है । उसी ईश्वर में यह सूक्ष्म-स्थूल जगत् संयोग और वियोग को प्राप्त होता है । वह सर्वव्यापी ईश्वर समस्त जड़ चेतन प्रजाओं में ओतप्रोत है ।

१४. यह सब पदार्थों में गुप्त रूप से स्थित परमात्मा स्थूल रूप में कभी प्रकाशित नहीं होता । यह तो सूक्ष्म ज्ञान वाले साधकों द्वारा, अत्युत्तम सूक्ष्म स्वगुणरूप बुद्धि के द्वारा ही साक्षात् अनुभव किया जाता है ।

१५. जो एक समान रूप वाली प्रकृति को अनेक रूपादिगुण वाले पदार्थों के रूप में परिवर्त्तित करता है वह ईश्वर एक है, सर्वजगत् को वश में रखने वाला है और सब पदार्थों में स्थित है । जो धीर लोग स्वात्मा में स्थित उस ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं को सनातन सुख मिलता है, अन्यों को नहीं ।

१६. ईश्वर का स्वरूप चर्मचक्षुओं के दर्शन में कभी नहीं आता, क्योंकि ईश्वर को कोई भी इन बाह्य चक्षुओं के द्वारा नहीं देख सकता । जो लोग हृदय में स्थित इस ईश्वर को शुद्ध स्वगुण रूप अन्तःकरण से साक्षात् करते हैं, वे अमर हो जाते हैं ।

१७. सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥ (श्वे.१.१६)

१८. सापेक्षत्वादनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥ (न्यायकु.१.४)

१९. प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात् ।
तदन्यस्मिन्नविश्वासान्न विधान्तरसम्भवः ॥ (न्यायकु.२.१)

२०. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् सङ्ख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥
(न्यायकु.५.१)

२१. स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥
(यो.द.व्या.भा.१.२८)

---

१७. जैसे दूध में घृत व्यापक होता है उसी प्रकार परमात्मा को जगत् में व्यापक समझना चाहिये । उसकी प्राप्ति आत्मविद्या और तपस्या से सुलभ है । वह ईश्वर महान्, सर्वान्तर्यामी और सर्वोत्कृष्ट है ।

१८. कार्य के सापेक्ष होने से, कार्यकारण व्यवस्था के अनादि होने से, जल आदि कार्यों के विचित्र रूप वाले होने से, लोगों की शुभकर्मों में प्रवृत्ति होने से और सुख-दुःख रूप भोगों के प्रत्येक प्राणी में अलग अलग व्यवस्थित होने से, निश्चित है कि इन सबका नियामक कोई अदृष्ट हेतु है और वह ईश्वर है ।

१९. प्रमा (ज्ञान) के पराधीन (वक्ता के अधीन) होने से, सृष्टि के प्रलय होने से और ज्ञानियों के उस सर्वज्ञ ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य में विश्वास न होने से; शुभकर्मों के अनुष्ठान तथा सुखादि के लिये ईश्वर को मानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग सम्भव नहीं है ।

२०. कार्य पदार्थों के देखने से, आयोजन (व्यवस्थादि कर्म) से, लोकों के धारण करने से, पदव्यवहार से, प्रामाण्य से अर्थात् वेदरूप प्रामाण्य का कोई कर्त्ता (वक्ता) होना चाहिये इस हेतु से, वेद की साक्षी होने से, वेदवाक्यों का रचयिता होने से और द्व्यणुकादि की सङ्ख्या का प्रयोजक होने से–इन आठ हेतुओं से वह सर्वज्ञ कूटस्थ ईश्वर सिद्ध होता है ।

२१. स्वाध्याय से योग को सिद्ध करे और योग से स्वाध्याय का अभ्यास करे । इस प्रकार स्वाध्याय और योग रूपी सम्पत्ति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है ।

२२. कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात् संहरन्,
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति ।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभि ध्यानानुभावं भुवं,
विश्वासैकभुवं शिवं प्रतिनमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥ (न्यायकु.२.४)

२३. प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः,
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्माऽपि नासाद्यते ।
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्द-लीलोत्सवं,
देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे ॥ (न्यायकु.३.२३)

२४. यस्माद् विश्वमुदेति यत्र रमते, यस्मिन् पुनर्लीयते,
भासा यस्य जगद् विभाति सहजानन्दोज्ज्वलं यन्महः ।
शान्तं शाश्वतमस्पृहं यमपुनर्भावाय भूतेश्वरं,
द्वैतध्वान्तमपास्य यान्ति कृतिनः प्रस्तौमि तं पूरुषम् ॥
(प्रबो.६.१४)

---

२२. जो ईश्वर अपनी माया (विचित्र ज्ञानलीला) से इस अलौकिक और अद्भुत पदार्थों से युक्त जगत् को जादू के समान बारम्बार बना बनाकर बिगाड़ता हुआ और बिगाड़-बिगाड़कर बनाता हुआ मानो क्रीड़ा करता है । जिसके ईक्षण का प्रभाव यथार्थ रूप से प्रकट हो रहा है उस आकार-रहित, केवल ध्यानगम्य, श्रद्धेय और विश्वसनीय, कल्याणकारी, जगदुत्पादक परमात्मा को मैं प्राणान्तकाल में भी नमस्कार करता रहूँ।

२३. प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के साथ ही पराजित हुए ईश्वर-विरोध के उदित होने की बात तो दूर, जिस ईश्वर की सत्ता को स्वीकारे बिना प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अपनी सत्ता को भी नहीं बचा सकते, उस समस्त विश्व के वशीकर्त्ता, अद्वितीय, सृष्टि-रचना आदि कर्म जिसकी स्वाभाविक लीलाएँ हैं और जो देवों का भी देव है, उस परमात्मा को हम अत्यन्त श्रद्धा के साथ प्राप्त करते हैं ।

२४. जिससे (जिसके निमित्त से) इस विश्व की उत्पत्ति होती है, जिसमें यह विश्व स्थित रहता है और (प्रलयावस्था में) फिर जिसमें लीन हो जाता है; जिसके प्रकाश से सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है और जिसका तेज स्वाभाविक आनन्द से सन्दीप्त है । जो शान्त, सनातन तथा कामना रहित है और पुण्य कर्मों वाले लोग मुक्ति के लिये अनेकेश्वरवाद रूपी अन्धकार को दूर करके प्राणिमात्र के प्रशासक जिस ईश्वर को प्राप्त करते हैं, उस परम पुरुष ईश्वर की मैं विशेष स्तुति करता हूँ ।

२५. शान्तं शुद्धं पुराणं, त्रिभुवन-भवनं, भावि भूतं भवच्च,
नित्यं बुद्धं प्रभूतं, सकलमतवरं, भव्यमेकं प्रसिद्धम् ।
पूर्णं विष्वक्प्रकाशं, शरणमनुपमं, ब्रह्म यन्निर्विकारं,
रुद्रं सन्तुष्टमद्धा, करणविषयता-शून्यमुद्भाति शश्वत् ॥ ( )

२६. केचिद् वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः,
केचिद् वदन्ति गुणहीन-जनो जघन्यः ।
व्यासो वदत्यखिलशास्त्रविदां वरेण्यो,
नारायण-स्मरणहीन-जनो जघन्यः ॥ ( )

२७. नमस्ते सते ते जगत्कारणाय, नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय, नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥

२८. त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं, त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम् ।
त्वमेकं जगत्कर्त्तृपातृप्रहर्तृ, त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥

२९. भयानां भयं भीषणं भीषणानां, गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैःपदानां नियन्तृ त्वमेकं, परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम् ॥

---

२५. जो ब्रह्म (सर्वमहान् ईश्वर) शान्त, शुद्ध, प्राचीन, तीनों लोकों का रचयिता, भविष्यत्-भूत-वर्त्तमान में सदा रहने वाला, नित्य, ज्ञानवान्, अतिविस्तृत, समस्त ज्ञानियों द्वारा अभिमत, भव्य, एकमात्र, प्रसिद्ध, परिपूर्ण, सर्वत्र ज्योति वाला, अद्वितीय आश्रय, विकाररहित, दुष्टों को रुलाने वाला, स्वतः सदा सन्तुष्ट, इन्द्रियों के विषयोंसे रहित और सनातन है, वह ईश्वर सदा प्रकाशित रहता है ।

२६. कुछ लोग कहते हैं कि धनविहीन व्यक्ति नीच है और कुछ कहते हैं कि गुणहीन जन नीच है । किन्तु समस्त शास्त्रज्ञों से श्रेष्ठ व्यासजी कहते हैं, कि जो मनुष्य ईश्वर का स्मरण नहीं करता वही नीच है ।

२७. हे जगत् के निमित्त कारण ईश्वर ! तुम्हें हमारा नमस्कार है । चेतन स्वरूप, सब लोकों के आधार रूप तुम्हारे लिये हमारा नमन है । एकमात्र परमतत्त्व और मुक्तिप्रदाता, सर्वव्यापक और सनातन तुझ ब्रह्म के लिये हमारा नमस्कार है ।

२८. हे ईश्वर ! तुम ही एकमात्र शरणस्थल हो, तुम ही एकमात्र श्रेष्ठतम हो, तुम ही इस विश्व के निमित्त कारण और सब पदार्थों के रूप-प्रदाता हो । तुम ही एकमात्र जगत् के रचयिता, पालक और प्रलयकर्त्ता हो, तुम ही परम शान्त-स्वरूप और निर्भ्रान्त ज्ञान वाले हो ।

२९. हे ईश्वर ! तुम पापियों के लिये परम भयदाता, और दुष्टों के लिये परम भीषण हो । तुम ही प्राणियों की अन्तिम गति हो और परम पावन हो । महान् प्रतिष्ठा वालों के भी तुम ही नियन्त्रक हो, श्रेष्ठों में भी परम श्रेष्ठ और रक्षकों में परमरक्षक हो ।

३०. वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो,
वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं,
भवाम्भाधिपोतं शरण्यं व्रजामः ।। ( )

३१. दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ।। (नीतिश.१)

३२. इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्, भूयोभिराक्षालिते,
येषां नास्पदमादधासि हृदये, ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः,
काले कारुणिक! त्वया हि कृपया, ते तारणीया नराः ।।

३३. अस्माकं तु निसर्गसुन्दर! चिराच्, चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधौ तथाऽपि तरलं, नाद्यापि सन्तृप्यते ।
तन्नाथ! त्वरितं विधेहि करुणां, येन त्वदेकाग्रतां,
याते चेतसि नाप्नुयाम शतशो, याम्याः पुनर्यातनाः ।।
(न्यायकु.५.१७-१८)

---

३०. हे ईश्वर ! हम तुम्हें स्मरण करते हैं, तुम्हारी भक्ति करते हैं और जगत् के साक्षी तुम्हारे प्रति नमन करते हैं । परम सत्ता वाले, एकमात्र, सबके आश्रय, पर स्वयं आश्रय रहित, सबके प्रशासक, भवसागर में नौकास्वरूप और शरण देने वाले तुमको हम प्राप्त करते हैं ।

३१. दिशाकाल आदि की सीमाओं से परे वर्तमान, अनन्त स्वरूप, मात्र चेतन तत्त्व, और साधकों की स्वानुभूति ही जिसकी सत्ता का उत्तम प्रमाण है, उस शान्त तेजःस्वरूप परमात्मा को हमारा नमस्कार है ।

३२. इस प्रकार वेद और न्याय (–तर्क) रूपी पुष्कल जल से धो दिये जाने पर भी (–वेद-वचनों और तर्कों से शङ्काओं के निरस्त कर देने पर भी) जिनके हृदय में, हे परमेश्वर ! आप प्रतिष्ठित नहीं हो पाते हो, वे निश्चय ही पाषाण-हृदय हैं । किन्तु ऐसे विपरीत विचारों वाले (–नास्तिक–) जनों को भी हे करुणा-निधान ईश्वर ! अवसर आने पर आप उन्हें अवश्य तार देना, क्योंकि (विपरीत रूप से ही सही) वे आपका चिन्तन तो करते हैं ।

३३. हे सहज सौन्दर्य से परिपूर्ण प्रभो ! हम भक्तों का चित्त तो बहुत समय से आनन्द-सरोवर आप में ही निमग्न है, किन्तु अपनी चपलता के कारण वह अभी पूरा तृप्त नहीं हुआ है । तो हे नाथ ! शीघ्र ही आप ऐसी दया कीजिये कि, हमारा चित्त आपके ही ध्यान में पूर्णरूप से तल्लीन हो जाये, जिससे हम बार-बार (यमयातनाएँ–) जन्म मरण के दुःखों को न भोगें ।

३४. सर्वात्मा सच्चिदानन्दो, विश्वादिर्विश्वकृद् विभुः ।
भूयात्तमां सहायो नः, सर्वेशो न्यायकृच्छुचिः ॥ (सं.वि.१)

—

जीवात्मा

१. ओ३म् वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो ! स्मर, क्लिबे स्मर, कृतं स्मर ॥ (यजु.४०.१५)

२. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ (यजु.४०.३)

३. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (श्वेता.५.९)

४. न जायते म्रियते वा कदाचिन्, नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(महाभा.भी.२६.२०)

---

३४. वह सबका अन्तर्यामी, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, इस सृष्टि से भी पूर्व वर्त्तमान, संसार का रचयिता, सर्वव्यापक, सबका शासक, न्यायकारी और शुद्ध परमेश्वर हमारा सदा सहायक हो ।

—

१. वह (वायु) गतिशील जीवात्मा अभौतिक है, अतएव कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता और यह भौतिक शरीर तो अन्त में भस्मरूप में परिणत होने वाला है । हे कर्मशील जीवात्मन् ! तू सर्वरक्षक ईश्वर को स्मरण रख, सामर्थ्य-प्राप्ति के लिये उसका स्मरण किया कर और अपने कर्मों का निरीक्षण किया कर ।

२. जो आत्मा को अवनति (पतन) की ओर ले जाने वाले हैं, वे जीते जी दुःख पाते हैं और मृत्यु के बाद केवल प्राणपोषण में तत्पर उन पशु आदि की योनियों में पहुँचते हैं, जो अज्ञान रूपी अन्धकार से पूर्ण होती हैं ।

३. केश के अग्र भाग के सौ टुकड़े किये जायें और उनमें से एक के फिर सौ टुकड़े किये जायें अर्थात् केश के सूक्ष्म अग्रभाग के दस हजारवें भाग के समान सूक्ष्म जीवात्मा है, परन्तु वह सामर्थ्य में प्रबल है ।

४. यह जीवात्मा कभी न तो उत्पन्न होता है और न मरता है और ऐसा भी नहीं है कि यह होकर फिर नहीं होगा । यह जन्मरहित, नित्य, सनातन और प्राचीन है । शरीर के मारे जाने पर, यह नहीं मारा जाता ।

५. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही
(महाभा.भी.२६.२२)

६. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥

७. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।
(महाभा.भी.२६.२३,२४)

८. अन्तवन्त इमे देहा, नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य, तस्माद् युध्यस्व भारत ॥
(महाभा.भी.२६.१८)

९. न प्रणाशोऽस्ति जीवस्य, दत्तस्य च कृतस्य च ।
याति देहान्तरं प्राणी, शरीरं तु विशीर्यते ॥
(महाभा.शा.१८७.१)

---

५. जैसे मनुष्य फटे हुए वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्र धारण कर लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा जीर्ण शरीरों को त्यागकर दूसरे नवीन शरीर प्राप्त कर लेता है ।

६. इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं, न इसे अग्नि जला सकता है । न इसको जल गीला कर सकता है और न वायु सुखा सकता है ।

७. अतः यह आत्मा काटे जाने, जलाये जाने, भिगोये जाने तथा सुखाये जाने के अयोग्य है । यह नित्य, सब प्राणियों के शरीरों में स्थित, स्थिर, नियमित और सनातन है ।

८. इस नित्य, अविनाशी और स्थूल-परिमाणरहित आत्मा के शरीरों को अन्तवाला (अनित्य) कहा गया है । इसलिये हे अर्जुन ! तू युद्ध कर ।

९. जीवात्मा का, दिये हुए दान का और किये गये कर्म का कभी नाश नहीं होता । यथासमय जीवात्मा दूसरे देह को प्राप्त करता है और पूर्व शरीर नष्ट हो जाता है ।

१०. न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे, मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति, दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ।
(महाभा.शा.१८७.२)

११. कामं क्रोधं लोभं मोहं, त्यक्त्वाऽऽत्मानं भावय कोऽहम् ।
आत्मज्ञानविहीना मूढ़ास्, ते पच्यन्ते नरकनिगूढ़ाः ।।
(मोहमु. ५)

१२. न पञ्चसाधारणमत्र किञ्चिच्छरीरमेको वहतेऽन्तरात्मा ।
स वेत्ति गन्धांश्च रसान् श्रुतीश्च, स्पर्शञ्च रूपञ्च गुणाश्च येऽन्ये ।।
( )

१३. यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं, यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता, यावत् क्षयो नायुषः ।।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा, कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं, प्रत्युद्यमः कीदृशः ? ।।
(वैराग्य.८२)

---

१०. शरीरपात होने पर जीवात्मा का नाश नहीं होता, अज्ञानियों का यह कहना मिथ्या है कि वह मर गया । जीवात्मा तो दूसरे शरीर में स्थानान्तरित हो जाता है । इसके शरीर का पात तो पञ्चतत्त्वों का अपने-अपने कारण में मिल जाना है ।

११. हे मनुष्य ! काम, क्रोध, लोभ और मोह को त्यागकर अपनी आत्मा के विषय में चिन्तन कर कि मैं कौन हूँ । जो आत्मज्ञान-रहित हैं, वे मूर्ख नरक में पड़कर दुःख रूपी फल पाते हैं ।

१२. इस आत्मतत्त्व में पांच भौतिक तत्त्व मिश्रित नहीं है । एक अन्तरात्मा ही इस शरीर का वहन करता है । वही जीवात्मा गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श और रूप को तथा अन्य गुणों को अनुभव करता है ।

१३. जब तक यह शरीर स्वस्थ है—नीरोग है और जब तक बुढापा दूर है, जब तक इन्द्रियों का सामर्थ्य कम नहीं होता और जब तक आयु क्षीण नहीं होती; तब तक ही विद्वान् मनुष्य को आत्मकल्याण के विषय में महान् प्रयत्न करना चाहिये । बुढ़ापा आदि आ जाने पर आत्मकल्याणार्थ प्रयत्न करना तो ऐसा ही है, जैसा घर में अग्नि लग जाने पर उसे बुझाने हेतु कूप खोदना ।

१४. न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन्नष्टे प्रणश्यति ।
समिधामिव दग्धानां, यथाग्निर्दृश्यते तथा ।।
१५. समिधामुपयोगान्ते यथाग्निर्नोपलभ्यते ।
आकाशानुगतत्वाद्धि, दुर्ग्राह्यो हि निराश्रयः ।।
१६. तथा शरीरसंत्यागे, जीवो ह्याकाशवत् स्थितः ।
न गृह्यते तु सूक्ष्मत्वाद्, यथा ज्योतिर्न संशयः ।।
१७. तत्त्वावबोधो हर्षणानामुत्कृष्टतमम् ।। (चरक.सू.३०.१५)
१८. प्राप्ता जरा यौवनमप्यतीतं, बुधा यतध्वं परमार्थसिद्धये ।
आयुर्गतप्रायमिदं यतोऽसौ, विश्रम्य विश्रम्य न याति कालः ।।
१९. तं दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।
(कठो. १.२.१२)
२०. यच्छेद् वाङ् मनसि प्राज्ञस्, तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।
(कठो. १.३.१३)

१४-१६. शरीर में रहने वाला जीवात्मा शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता, अपितु वैसे ही वर्त्तमान रहता है, जैसे समिधाओं के पूर्णतया जल जाने पर भी अग्नि वर्त्तमान रहता है । जैसे समिधाओं के पूर्णतया भस्म हो जाने पर अग्नि इसलिये दृष्टिगत नहीं होता क्योंकि, आकाशवत् सूक्ष्म होने के कारण वह तत्त्व आश्रयरहित हो जाने से ग्रहण योग्य नहीं रहता, वैसे ही शरीर को त्याग देने के पश्चात् जीवात्मा भी आकाश के समान वर्त्तमान रहता है, किन्तु वह सूक्ष्म होने के कारण चक्षु आदि के द्वारा ज्योति के समान ग्रहण नहीं किया जा सकता ।

१७. आत्मतत्त्व का ज्ञान हर्षित करने वाले कारणों में सबसे श्रेष्ठ है ।

१८. बुढ़ापा आ गया है, यौवन बीत गया है । हे बुद्धिमान् लोगो ! परमार्थ (आध्यात्मिक उन्नति) की सिद्धि के लिये शीघ्र प्रयत्न करो । यह आयु लगभग समाप्त होने वाली है, याद रखना, यह काल विश्राम करता हुआ नहीं चलता, अपितु झपाटे से चलता जाता है ।

१९. उस कठिनाई से अनुभव करने योग्य, गुप्त, अन्तःप्रविष्ट, बुद्धिरूपी गुफा में गहरे में स्थित और प्राचीन दिव्यगुणयुक्त आत्मा को धैर्यशाली पुरुष जानकर हर्षशोक से परे हो जाता है ।

२०. बुद्धिमान् मनुष्य अपनी वाणी आदि इन्द्रियों को मन में लीन करे, मन को बुद्धि में लीन करे, बुद्धि को महत्तत्त्व में लीन करे और महत्तत्त्व को शान्त आत्मा में लीन करे ।

२१. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्,
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-,
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ (कठो.२.१.१)

२२. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ (मुण्डक.३.१.५)

—

ज्ञानम्

१. ओ३म् सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरद् ऋजीयस्, तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥
(ऋ. ७.१०४.१२)

२. ज्ञानेन तु तदज्ञानं, येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं, प्रकाशयति तत्परम् ॥ (महाभा.भी. २९.१६)

---

२१. परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है, अतः इन्द्रियाधीन जीवात्मा बाहर की ओर ही प्रवृत्त होता है अन्तरात्मा की ओर नहीं । कोई विरला ही धीर पुरुष मुक्ति की कामना करता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों को रोककर, अपनी अन्तरात्मा की ओर अभिमुख होता है ।

२२. यह आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और सतत ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया जा सकता है । यह आत्मा शरीर के अन्दर ज्योतिर्मय तथा विशुद्ध रूप में स्थित है, जिसे सर्व दोषों से रहित संन्यासी (अथवा संयमी) लोग ही साक्षात् करते हैं ।

—

१. उत्तम विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति की कामना वाले मनुष्य के सामने दो प्रकार की वाणियाँ– दो प्रकार के ज्ञान उपस्थित होते हैं । उनमें से जो सत्य और सरलतर ज्ञान है, उसी की प्रेरक और शान्तिप्रद परमात्मा रक्षा करता है और असत्य ज्ञान को नष्ट कर देता है ।

२. जिन्होंने अपनी आत्मा के ज्ञान से अज्ञान को नष्ट कर दिया है, उनका वह आत्मज्ञान उनके परम ज्ञान को सूर्य के समान प्रकाशित कर देता है ।

३. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, भस्मसात् कुरुते तथा ॥

४. नहि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योग-संसिद्धः, कालेनात्मनि विन्दति ॥

५. श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(महाभा.भी.२८.३७-३९)

६. नेत्रहीनो यथा ह्येकः, कृच्छ्राणि लभतेऽध्वनि ।
ज्ञानहीनस्तथा लोके, तस्माज्ज्ञानविदोऽधिकाः ॥
(महाभा.शा.२१४.४)

---

३. हे अर्जुन ! जैसे प्रदीप्त अग्नि काष्ठों को भस्म कर देता है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देता है ।

४. इस संसार में ज्ञान के समान अन्य कोई वस्तु पवित्र नहीं है । योगसिद्धि को प्राप्त मनुष्य उस ज्ञान को चिरकाल की साधना के पश्चात् स्वयं प्राप्त कर लेता है ।

५. श्रद्धालु, ज्ञान-प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील और जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है । ज्ञान को पाकर शीघ्र ही वह परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है ।

६. जैसे नेत्रहीन मनुष्य मार्ग में अनेक कष्ट पाता है, वही स्थिति इस संसार में ज्ञानरहित मनुष्य की होती है; इसीलिये ज्ञानी मनुष्यों को अधिक श्रेष्ठ माना गया है ।

—

कर्म

१. ओ३म् कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतो ऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे ॥ (यजु.४०.२)

२. अव्यसश्च व्यचसश्च, बिलं विष्यामि मायया ।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥ (अथर्व.१९.६८.१)

३. अक्रन् कर्म कर्मकृतः, सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वा ऽस्तं प्रेत सचाभुवः ॥ (यजु.३.४७)

४. इन्द्र क्रतुं न आ भर, पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि, जीवा ज्योतिरशीमहि ॥
(ऋ.७.३२.२६)

५. देवस्य सवितुः सवे, कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ (अथर्व.६.२३.३)

---

१. मनुष्य इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे । हे मनुष्य! इस प्रकार कर्मानुष्ठान द्वारा अन्यों का नेतृत्व करने वाले तुझ में, कर्मों की आसक्ति उत्पन्न नहीं होगी ।

२. अव्यापक (परिच्छिन्न) जीवात्मा और व्यापक परमात्मा के रहस्य को मैं बुद्धि के द्वारा प्राप्त कर लेता हूँ । जीव और ईश्वर इन दोनों के विवेचन के साथ वेद को धारण करके फिर हम शुभ कर्मों को करते हैं ।

३. कर्म करने वाले जन सुखदायिनी वेदवाणी के चिन्तन के साथ कर्म करते हैं । हे संगठित रहने वाले सज्जनो ! देवों के लिये कर्म करके अपने मुख्य लक्ष्य को प्राप्त करो ।

४. हे ऐश्वर्यशाली परमात्मन् ! आप हमें उसी प्रकार कर्म से संयुक्त करो जैसे पिता अपने पुत्रों को कर्मयुक्त करता है । हे बहुतों से पुकारे गये ईश्वर ! आप हमें जीवन-मार्ग में शिक्षित करो, जिससे हम इसी जीवन में, प्रकाश स्वरूप आपको पा सकें ।

५. परमदेव प्रेरक परमात्मा के इस संसार में सभी मनुष्य कर्म करें । कल्याणकारी जल और औषधियाँ हमारे लिये शान्तिप्रद हों ।

६. **नमस्यामो देवान्ननु बत ! विधेस्तेऽपि वशगा**
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियत-कर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किं च विधिना,
नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥ (नीति.९५)

७. **यद्यदाचरति श्रेष्ठस् तत्तदेवेतरो जनः ।**
तस्माल्लोकस्य सिद्धयर्थं कर्त्तव्यं चात्मसिद्धये ॥
(महाभा.शा. २२०)

८. **सञ्चिन्त्य मनसा राजन् ! विदित्वा शक्यमात्मनः ।**
करोति यः शुभं कर्म, स वै भद्राणि पश्यति ॥
(महाभा.शा. २९१.१८)

९. **नाऽबीजाज्जायते किञ्चिन्नाऽकृत्वा सुखमेधते ।**
सुकृतैर्विन्दते सौख्यं, प्राप्य देहक्षयं नरः ॥
(महाभा.शा. २९०.१२)

१०. **कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।**
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

---

६. हम, विद्वान् आदि देवों को नमस्कार करते हैं, किन्तु अरे ! वे भी तो विधाता के आधीन हैं । तो फिर विधाता अवश्य वन्दनीय है, किन्तु वह भी तो कर्मों के अनुरूप ही निश्चित फल देता है । इस प्रकार जब फल कर्मों के ही आधीन है (कर्मों के अनुसार ही मिलने वाला है) तो देवों और विधाता के ऊपर निर्भर न रहकर कर्मों को नमस्कार करें – कर्मों को प्रधानता दें, जिनको बदलने में विधाता भी समर्थ नहीं है।

७. श्रेष्ठ मनुष्य जिस जिस कर्म को करता है, वही कर्म सामान्य मनुष्य भी करता है । अतः लोक के कल्याण के लिये और आत्मसिद्धि के लिये शुभ कर्म अवश्य करना चाहिये ।

८. हे राजन् ! जो मनुष्य मन से भली प्रकार चिन्तन करके और अपने सामर्थ्य को देखकर शुभ कर्म करता है, वह भद्र का दर्शन करता है अर्थात् उसके जीवन में शुभ ही शुभ होता है।

९. बिना बीज के कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार बिना कर्म किये मनुष्य सुख नहीं पाता । उत्तम कर्मों से ही मनुष्य देहत्याग के पश्चात् भी सुख प्राप्त करता है ।

१०. हे अर्जुन ! कर्म करने में ही तेरा अधिकार (स्वातन्त्र्य) है, कर्म के फल पाने में नहीं। तू कर्मफल का प्रयोजक मत बन । निकम्मेपन में तेरी रुचि कभी न होवे ।

११. योगस्थः कुरु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते ॥
(महाभा.भी. २६,४७.४८)

१२. नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

१३. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (महाभा.भी.२७.८.९)

१४. किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा, किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि सञ्चिन्त्य, कुर्याद् वा पुरुषो न वा ॥
(महाभा.उ. ३४.१९)

१५. कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं, पश्चात्तापकरं मतम् ॥ (महाभा.उ.३८.२३)

१६. वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥
(नीति. ९८)

---

११. हे अर्जुन ! तू योग में स्थित होकर, आसक्ति का त्याग करके और सफलता और विफलता में समस्थिति वाला होकर कर्मों को कर । समता का नाम ही योग है ।

१२. हे अर्जुन ! तू निर्धारित कर्मों को अवश्य कर, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना अधिक अच्छा है । कर्म न करने से तो तेरे शरीर का भी निर्वाह नहीं हो सकता ।

१३. यज्ञनिमित्त से किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं, उनसे यह संसार बन्धन का कारण बनता है । इसलिये हे अर्जुन ! तू आसक्ति को त्यागकर यज्ञ के लिये उत्तम प्रकार से कर्म कर ।

१४. इस कर्म के करने से मुझे क्या फल मिलेगा और न करने से क्या फल मिलेगा, इस प्रकार अच्छी प्रकार विचार करके ही मनुष्य उस कर्म को करे अथवा न करे ।

१५. उत्तम कर्मों का अनुष्ठान सुखदायी और उनका न करना पश्चात्तापकारी माना गया है। (अतः शुभकर्म अवश्य करने चाहियें)

१६. जङ्गल में, युद्ध में, शत्रुओं के मध्य में, जलाशय में, अग्नि के मध्य में, महासागर में अथवा पर्वत के शिखर पर कहीं भी मनुष्य क्यों न हो और वह सोया हुआ, विक्षिप्त अथवा कठिन स्थिति में क्यों न हो, उसके पूर्व में किये हुए पुण्य कर्म उसकी सदा रक्षा करते हैं – उसकी रक्षा में कारण बनते हैं ।

१७. भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं,
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा,
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ।। (नीति.१०३)

१८. गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्,
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ।। (नीति. १००)

१९. यः पश्चात् पूर्वकार्याणि, कुर्यादैश्वर्यमास्थितः ।
पूर्वं चोत्तरकार्याणि, न स वेद नयाऽनयौ ।। (वाल्मी.यु. ६३.५)

२०. देशकालविहीनानि, कर्माणि विपरीतवत् ।
क्रियमाणानि दुष्यन्ति, हवींष्यप्रयतेष्विव ।। (वाल्मी.यु. ६३.६)

२१. अवशेन्द्रियचित्तानां, हस्तिस्नानमिव क्रिया ।
दुर्भगाभरणप्रायो, ज्ञानं भारः क्रियां विना ।। (हितो.मि. १८)

---

१७. जिस मनुष्य के पूर्व में किये गये पुण्यकर्म पुष्कल मात्रा में हैं, उसको भयङ्कर जङ्गल भी मुख्य नगर जैसा प्रतीत होता है, सब मनुष्य उसके साथ सज्जनता का व्यवहार करते हैं और सम्पूर्ण पृथिवी उसके लिये उत्तम रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है ।

१८. बुद्धिमान् मनुष्य को गुणयुक्त अथवा गुणरहित कर्म करने से पहिले, प्रयत्नपूर्वक उसके परिणाम के विषय में विचार कर लेना चाहिये । (बिना परिणाम का विचार किये) अतिशीघ्रता में किये गये कर्मों का फल हृदय को जलाने वाला, तीखा और विपत्तिकारक होता है ।

१९. जो मनुष्य अपने प्रचुर ऐश्वर्य पर अभिमान करके पहिले करने योग्य कार्यों को पीछे करता है और पीछे करने योग्य कार्यों को पहिले करता है, वह नीति और अनीति को नहीं जानता है ।

२०. जो कर्म देश और काल का विचार किये बिना किये जाते हैं, वे उसी प्रकार दोषयुक्त होते हैं, जैसे असावधान ऋत्विजों के द्वारा दी गई होमाहुतियाँ ।

२१. जिनकी इन्द्रियाँ और मन अपने वश में नहीं हैं, उनके द्वारा किये गये कर्म हाथी के स्नान के समान व्यर्थ हैं । उनके वे कर्म विधवा अथवा कुरूप स्त्रियों के द्वारा धारण किये गये आभूषणों के समान हैं । निश्चय ही कर्म के बिना तो ज्ञान भाररूप है ।

२२. आदेयस्य प्रदेयस्य, कर्त्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य, कालः पिबति तद्रसम् ॥ (हितो.सु.१४६)

२३. क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनं,
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥ (नीति. ८२)

२४. अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ।
नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि ॥ (अत्रिस्मृतिः)

२५. भाग्यवैषम्यदोषेण, पुरस्ताद् दुष्कृतेन च ।
मयैतत् प्राप्यते सर्वं, स्वकृतं ह्युपभुज्यते ॥ (वाल्मी.यु. ११३.९)

२६. यदाचरति कल्याणि ! शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
तदेव लभते भद्रे ! कर्त्ता कर्मजमात्मनः ॥ (वाल्मी.अयो.)

२७. अवश्यमेव लभते, फलं पापस्य कर्मणः ।
भर्त्तः ! पर्यागते काले, कर्त्ता नास्त्यत्र संशयः ॥

---

२२. लेने योग्य वस्तु, देने योग्य वस्तु और करने योग्य कर्म को यथासमय शीघ्रता से न लिया जाय, न दिया जाय और न किया जाय तो (समय बीतने पर) उनके सार को समय पी जाता है अर्थात् वे निस्सार हो जाते हैं ।

२३. कर्म करने को उद्यत व्यक्ति, कहीं तो भूमि को शय्या बना लेता है और कहीं पलंग पर सोता है; कहीं कच्चे शाक खा लेता है और कहीं बढ़िया भात से तृप्त होता है; कहीं चिथड़े से शरीर ढक लेता है और कहीं उत्तम वस्त्र धारण करता है; इस प्रकार वह मनस्वी व्यक्ति कार्यमध्य में आने वाले न दुःखों को गिनता है और न सुखों को।

२४. किये गये शुभ या अशुभ कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है । किया कर्म, बिना भोगे, करोड़ों वर्ष तक भी मिटता नहीं है ।

२५. भाग्य की विषमता रूपी दोष से और पूर्व में किये दुष्टकर्मों के कारण मुझे (अपहरण तथा रामवियोग आदि) दुःख प्राप्त हुए हैं । यह निश्चय है कि मनुष्य अपने किये हुए कर्म का ही फल भोगता है । (सीता के वचन)

२६. हे कल्याणि सीते ! मनुष्य शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसी अपने किये का वह फल भोगता है ।

२७. हे पतिदेव रावण ! कर्मकर्त्ता अपने किये पाप कर्म का फल, समय आने पर अवश्य ही पाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है (रावणपत्नी मन्दोदरी का वचन) ।

२८. शुभकृच्छुभमाप्नोति, पापकृत् पापमश्नुते ।
विभीषणः सुखं प्राप्तस्, त्वं प्राप्तः पापमीदृशम् ॥
(वाल्मी.यु. १११.२५,२६)

२९. अचोद्यमानानि यथा, पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वं कालं नातिवर्त्तन्ते, तथा कर्म पुरा कृतम् ॥
(महाभा.शा. १८१.१२)

—

आरोग्यम्

१. ओ३म् एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ (अथर्व.२.१३.४)

२. वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥

३. ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥ (अथर्व. १९.६०.१,२)

४. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः, श्रेयसो जीवितस्य च ॥ (च.सू.१.२५)

---

२८. शुभकर्म करने वाला शुभफल (सुख) पाता है, पाप करने वाला पापफल (दुःख) पाता है । विभीषण ने (शुभ कर्म का फल) सुख पाया है और तूने (रावण ने) यह पापफल (दुःख) पाया है । (रावणपत्नी के वचन)

२९. जैसे फूल और फल (प्रत्यक्षतः) बिना किसी के प्रेरणा किये ही अपने काल का अतिक्रमण नहीं करते (अपितु यथासमय फूलते और फलते हैं) वैसे ही पूर्व में किये कर्म भी (यथासमय अवश्य फलित होते हैं) ।

—

१. हे ज्ञानवान् मनुष्य ! तू पाषाण को अपना आसन बना, तेरा शरीर पाषाण के समान स्थिर और कठोर होवे । सब देव तेरी आयु को सौ वर्ष की करें ।

२-३. मेरे मुख में वाक्शक्ति सदा रहे, दोनों नथुनों में श्वास प्रश्वास, दोनों आँखों में दर्शन शक्ति, दोनों कानों में श्रवण शक्ति सदा बनी रहे । मेरे केश पकें नहीं, मेरे दांत लाल (मलिन–विकृत) न हों । मेरी दोनों भुजाओं में बहुत बल रहे मेरे पट्ठों में ओज, पिंडलियों में वेग और पगों में खड़े रहने की शक्ति रहे । मेरे सारे अङ्ग अविकृत – नीरोग रहें और मेरी आत्मा पतित न हो ।

४. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों का नीरोगता (स्वास्थ्य) ही मुख्य आधार है । उस स्वास्थ्य के अपहरण-कर्त्ता रोग हैं । ये रोग, मनुष्य के कल्याण और जीवन के भी अपहर्त्ता हैं ।

५. नरो हिताहारविहारसेवी, समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥

६. मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धि, सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः ।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे, यस्यास्ति तं नानुतपन्ति रोगाः ॥
(च.शा. २.४७)

७. समदोषः समाग्निश्च, समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ (सु.सू.१५.४१)

८. बलवान् वर्णवान् सर्वरतिः स्वङ्गः स्थिरेन्द्रियः ।
प्रसन्नात्मा सर्वसहो, विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥

९. एतां प्रकृतिमप्राप्तः, सर्ववर्ज्यानि वर्जयेत् ।
महादोषकराण्यष्टाविमानि तु विशेषतः ॥

१०. उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभमतिचङ्क्रमणासने ।
अजीर्णाहितभोज्ये च, दिवा स्वप्नं च मैथुनम् ॥ (च.सि.१२.९-११)

---

५. हितकारी भोजन और व्यायाम आदि करने वाला, विवेक पूर्वक कार्य करने वाला, विषयों में अनासक्त, दान देने वाला, समभाव वाला, सत्यपरायण, क्षमाशील, और आप्त जनों की सेवा सङ्गति करने वाला मनुष्य नीरोग रहता है ।

६. जिस मनुष्य के मति, वाणी और कर्म सुखपरिणामी हैं, जिसके कर्त्तव्य सत्त्व-गुणयुक्त हैं और जिसकी बुद्धि सुविकसित है । जिसके जीवन में उत्तम ज्ञान, तप और योग - विषयक तत्परता हैं; उस मनुष्य को रोग नहीं तपाते हैं ।

७. जिसके शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष, सम (उचित) मात्रा में रहते हैं, जिसकी जठराग्नि सम रहती है, जिसकी रक्त, मांस आदि धातुएँ उचित परिमाण में अवस्थित हैं, जिसके शरीर में मल अपेक्षित मात्रा में है, जिसकी श्वास आदि की क्रियाएँ सम हैं, जो सदा प्रसन्न आत्मा, इन्द्रियों और मन से युक्त है, वह 'स्वस्थ' कहलाता है ।

८. बलशाली, स्वरूपवान्, सब कामों में रुचि रखने वाला, उत्तम अङ्गों वाला, स्थिर इन्द्रियों वाला, प्रसन्न आत्मा वाला और सबको सह लेने वाला मनुष्य प्रकृतियुक्त (स्वस्थ) है ऐसा समझना चाहिये ।

९-१०. जो इस प्रकार प्रकृतियुक्त (स्वस्थ) न हो वह सभी त्यागने योग्य चेष्टाओं और पदार्थों को त्याग देवे । विशेष रूप से महादोषोत्पादक निम्नलिखित आठ कर्मों को – चीख चीख कर बोलना, धक्के लगाने वाले तथा उचकाने वाले वाहनों में यात्रा करना, अधिक मार्ग चलना, अधिक काल तक बैठे रहना, अजीर्ण में भोजन कर लेना, अहितकारी भोजन करना, दिन में शयन करना और मैथुन ।

११. देवगोब्राह्मणगुरु-वृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेद्, अग्निमुपचरेद्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेद्, द्वौ कालावुपस्पृशेत्, मलायनेष्वभीष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात् । त्रिः पक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत् । नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात् ॥ (च.सू. ८.१९)

१२. त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति ॥ (च.सू. ११.३४)

भोजनम्

१३. षट्त्रिंशतं सहस्राणि, रात्रीणां हितभोजनः । जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा संमतः सताम् ॥ (च.सू.२७.३४६)

१४. हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्, कालभोजी जितेन्द्रियः । पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान्, बुद्धिमान् विषमाशनात् ॥ (च.नि.६.१२)

१५. पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् । दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च, प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥

१६. पूजितं ह्यशनं नित्यं, बलमूर्जं च यच्छति । अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ (मनु.२.५४,५५)

---

११. ईश्वर, विद्वान्, गौ, ब्राह्मण, माता-पिता, वृद्ध, सिद्ध और अध्यापकों का सत्कार करे – ईश्वर की उपासना करे, अग्निहोत्र का अनुष्ठान करे, उत्तम औषधियों का सेवन करे, प्रातः सायं दोनों समय स्नान करे; मलेन्द्रिय, मूत्रेन्द्रिय आदि मलविसर्जक अङ्गों को तथा दोनों पगों को बार-बार स्वच्छ करता रहे । पक्ष में तीन बार केश, दाढ़ी-मूँछ के बाल और नखों को कटवावे; सदा स्वच्छ वस्त्र धारी, प्रसन्नमना और सुगन्ध धारण करने वाला होवे ।

१२. शरीर को धारण करने वाले तीन उपस्तम्भ हैं–भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य ।

१३. हितकारी भोजन करने वाला, अपने को संयम में रखने वाला और सज्जनों के द्वारा प्रशंसित मनुष्य नीरोग रहता हुआ सौ वर्ष तक जीवित रहता है ।

१४. मनुष्य जितेन्द्रिय बने और विषम (अनियमित तथा अहितकारी) भोजन से उत्पन्न होने वाले रोगों और उनसे प्राप्तव्य कष्टों का विचार करके, सदा निर्धारित समय पर हितकारक और मात्रा में भोजन करने का अभ्यासी बने ।

१५. सदा भोजन को श्रद्धा से देखे और उसकी निन्दा न करते हुए उसका सेवन करे । भोजन को देखकर हर्ष और प्रसन्नता व्यक्त करे और सब प्रकार से उसकी प्रशंसा करे ।

१६. श्रद्धा से किया हुआ भोजन, सदा बल और पराक्रम प्रदान करता है । अपमानपूर्वक खाया हुआ भोजन, बल और पराक्रम दोनों को नष्ट कर देता है ।

१७. विघसाशी भवेन्नित्यं, नित्यं वाऽमृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु, यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ (मनु. ४.२८५)

१८. गुणाश्च षण् मितमुक्तं भजन्ते, ह्यारोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं, न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥
(महा.उ. ३७.३४)

१९. अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं, तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥ (मनु.२.५७)

२०. आयुः-सत्त्व-बलारोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या, आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

२१. कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा, दुःखशोकामयप्रदाः ॥

२२. यातयामं गतरसं, पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम् ॥ (महाभा.भी.४१.८-१०)

२३. अश्नीयात्तन्मना भूत्वा, पूर्वन्तु मधुरं रसम् ।
मध्येऽम्ललवणौ पश्चात्, कटुतिक्तकषायकम् ॥

---

१७. सदा 'विघस' भोजन का सेवन करे अथवा 'अमृत' भोजन का सेवन करे । अन्यों के भोजन कर लेने पर बचे हुए भोजन को 'विघस' तथा यज्ञ में आहुति देने से अवशिष्ट भोजन को 'अमृत' कहते हैं ।

१८. मात्रा में भोजन करने वाले में छः गुण आते हैं—स्वास्थ्य, दीर्घ आयु, बल, सुख, स्वरूपवान् सन्तान की प्राप्ति और इसकी पेटू कहकर लोग निन्दा नहीं करते ।

१९. मात्रा से अधिक भोजन करना स्वास्थ्य-नाशक, आयुह्रासक, दुःखदायी, पाप और लोगों में द्वेषोत्पादक होता है, अतः अधिक भोजन करने की प्रवृत्ति को त्याग देवे ।

२०. आयु, सामर्थ्य, बल, स्वास्थ्य, सुख और रुचि को बढ़ाने वाले, रसीले, चिकने (घृत-दुग्धादियुक्त), शीघ्र न बिगड़ने वाले और हृदय को पुष्ट करने वाले भोजन सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं अर्थात् ऐसे भोजन सात्त्विक हैं ।

२१. चरपरे, खट्टे, नमकीन, अति उष्ण, तीखे, रूखे और जलन उत्पन्न करने वाले भोजन राजसिक लोगों को प्रिय हैं । ये भोजन दुःखदायी, शोककारक और रोगोत्पादक होते हैं ।

२२. अधपका, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा और बुद्धिनाशक तथा अपवित्र भोजन तामसिक लोगों को प्रिय है ।

२३. भोजन करते समय तन्मय होकर पहिले मधुर पदार्थ खावे, तदनन्तर खट्टे तथा नमकीन और तत्पश्चात् चरपरे, कड़वे और कसैले पदार्थ ।

२४. उष्णमश्नीयात्० स्निग्धमश्नीयात्० मात्रावदश्नीयात्० जीर्णेऽश्नीयात्० वीर्याऽविरुद्धमश्नीयात्० इष्टे देशेऽश्नीयात् ० नातिद्रुतमश्नीयात्० नातिविलम्बितमश्नीयात्० अजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत० आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक् ॥ (च.वि. १.३१-४०)

२५. त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याऽऽहारमुपयुञ्जानः । तद्यथा–एकमवकाशांशं मूर्त्तानामाहारविकाराणामेकं द्रवाणामेकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम् ॥ (च.वि.२.३)

२६. गुरूणामल्पमादेयं, लघूनां तृप्तिरिष्यते ।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते, मात्रा चाग्निमपेक्षते ॥ (च.सू.२७.३३९)

२७. अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च, सन्धारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापिभुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥

---

२४. उष्ण भोजन करे । घृत-दुग्धादियुक्त चिकना भोजन करे । मात्रा में भोजन करे । पहिले खाये हुए के अच्छी तरह से पच जाने पर भोजन करे । जो भोज्यपदार्थ परस्पर विरुद्ध न हों उन्हें खावे । उत्तम स्थान पर भोजन करे । अतिशीघ्र न खावे । बहुत धीरे-धीरे भी न खावे । बिना अधिक बोलते हुए और बिना हंसते हुए भोजन करे । अपने स्वास्थ्य आदि का भली-भांति विचार करके अच्छी प्रकार भोजन करे ।

२५. भोजन करने वाला मनुष्य अपने पेट (आमाशय) के तीन भाग करे । एक भाग रोटी आदि ठोस पदार्थों के लिये, दूसरा भाग दूध, रस, पानी आदि द्रवपदार्थों के लिये और तीसरा भाग रिक्त रखे जिससे उस भाग में वात, पित्त, कफ का संचार हो सके ।

२६. पचने में भारी भोज्य पदार्थ अल्प मात्रा में खाने चाहियें, हल्के पदार्थ तृप्ति पर्यन्त खाये जा सकते हैं । भोज्य पदार्थ मात्रा पर निर्भर हैं और मात्रा जठराग्नि पर निर्भर है ।

२७. अति जल पीने से, अनियमित और अहितकारी भोजन करने से, वेगों के रोकने से और निद्रा की गड़बड़ी से मनुष्य के द्वारा खाया हुआ भोजन पचता नहीं है, भले ही वह समय पर खाया जाय, अपने अनुकूल हो और हल्का भी क्यों न हो ।

२८. ईर्ष्याभयक्रोध-परिप्लुतेन, लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥ (माधव.अ.)

२९. मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं, पथ्यं चान्नं न जीर्यते ।
चिन्ताशोकभयक्रोध-दुःखशय्याप्रजागरैः ॥ (च.वि.२.१३)

३०. बलमारोग्यमायुश्च, प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः ।
अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्दीप्यते शाम्यतेऽन्यथा ॥ (च.सू.२७.३४०)

जलम्

३१. अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं, निरम्बुपानाच्च स एव दोषः ।
तस्मान्नरो वह्नि-विवर्धनाय, मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ॥

३२. भुक्तादौ सलिलं पीतं, कार्श्यमन्दाग्निदोषकृत् ।
मध्येऽग्निदीपनं श्रेष्ठमन्ते स्थौल्यकफप्रदम् ॥ (क्षेम. ३.३१,३२)

वेगाऽधारणम्

३३. न वेगान् धारयेद्धीमान्, जातान् मूत्रपुरीषयोः ।
न रेतसो न वातस्य, न वम्याः क्षवथोर्न च ॥

३४. नोद्गारस्य न जृम्भाया, न वेगान् क्षुत्पिपासयोः ।
न वाष्पस्य न निद्राया, निःश्वासस्य श्रमेण च ॥ (च.सू.७.३,४)

---

२८. ईर्ष्या, भय तथा क्रोध से परिपूर्ण, लोभ से युक्त, रोग और दीनता से ग्रस्त तथा द्वेष से पूर्ण मनुष्य के द्वारा खाया जाता हुआ अन्न भली प्रकार से नहीं पचता है ।

२९. मात्रा में खाया गया और हितकारक भी भोजन चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुःख, कष्टदायी शय्या और विशेष जागरण आदि के कारण नहीं पचता है ।

३०. बल, स्वास्थ्य, आयु और प्राण जठराग्नि पर निर्भर हैं । जठराग्नि की दीप्ति अन्नपान रूपी इन्धन से होती है, अन्नपान के अभाव में वह बुझ जाती है ।

—

३१. अति जल पीने से अन्न नहीं पचता है और जल सर्वथा न पीने से भी वही दोष होता है । अतः मनुष्य जठराग्नि के उद्दीपन के लिये बार-बार किन्तु अल्पमात्रा में जल पीवे (जिससे अन्न का सम्यक् परिपाक हो) ।

३२. भोजन के आरम्भ में जल पीना दुर्बलता और मन्दाग्नि कारक है । भोजन के मध्य में जल पीना जठराग्नि-दीपक होने से उत्तम है और भोजन के अन्त में जल पीना मोटापा और कफ को बढ़ाने वाला है ।

—

३३-३४. बुद्धिमान् मनुष्य मूत्र और मलत्याग के वेग को न रोके । तथा शुक्र, अपानवायु, वमन, छींक, डकार, जंभाई, भूख, प्यास, आंसू, नींद और परिश्रम से उत्पन्न तीव्र श्वास प्रश्वास – इन के वेगों को भी न रोके ।

शोधनम्

३५. एवं विशुद्धकोष्ठस्य, कायाग्निरभिवर्द्धते ।
व्याधयश्चोपशाम्यन्ति, प्रकृतिश्चानुवर्त्तते ॥

३६. इन्द्रियाणि मनोबुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति ।
बलं पुष्टिरपत्यं च, वृषता चास्य जायते ॥

३७. जरां कृच्छ्रेण लभते, चिरं जीवत्यनामयः ।
तस्मात् संशोधनं काले, युक्तियुक्तं पिबेन्नरः ॥ (च.सू.१६.१७-१९)

३८. वीर्यं बलवर्धनानामुत्कृष्टतमम् ॥ (च.सू.३०.१५)

—

निद्रा

१. यदा तु मनसि क्लान्ते, कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते, तदा स्वपिति मानवः ॥

२. निद्रायत्तं सुखं दुःखं, पुष्टिः कार्श्यं बलाऽबलम् ।
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥

३५-३७. जिसका कोष्ठ (पेट बड़ी आंत तथा मलाशय आदि) शुद्ध हो जाता है, उसकी जठराग्नि बढ़ जाती है, रोग शान्त हो जाते हैं, उसका स्वास्थ्य उत्तम रहता है; इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि निर्मल हो जाती है; रंग निखरता है; उसे बल, पुष्टि, सन्तान और पुंस्त्व शक्ति की प्राप्ति होती है । उसे बुढ़ापा देर से आता है और वह नीरोग रहता हुआ चिरकाल तक जीवित रंहता है । इसलिये यथासमय (वैद्यनिर्देशानुसार) संशोधनार्थ (क्वाथ अथवा घृत आदि का) युक्तिपूर्वक पान करे ।

३८. बल बढ़ाने वाले पदार्थों में वीर्य (वीर्यरक्षा) सर्वोत्तम है ।

—

१. जब मन के थक जाने पर, निरन्तर अपने कार्य में लगी हुई इन्द्रियाँ थक जाती हैं और फलतः विषयों से विमुख हो जाती हैं, तब मनुष्य सोता है ।

२. सुख और दुःख, पुष्टि और दुबलापन, बल और निर्बलता, पुंस्त्व और नपुंसकता, ज्ञान और अज्ञान तथा जीवन और मृत्यु; ये सब निद्रा के आधीन हैं ।

३. अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च, न च निद्रा निषेविता ।
सुखायुषा परा कुर्यात्कालरात्रिरिवाऽपरा ।।

४. सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते, निद्रा देहं सुखायुषा ।
पुरुषं योगिनं सिद्ध्या सत्या बुद्धिरिवाऽऽगता ।।

५. गीताध्ययन-मद्य-स्त्री-कर्म-भाराध्वकर्षिताः ।
अजीर्णिनः क्षताः क्षीणा, वृद्धा बालास्तथाऽबलाः ।।

६. तृष्णातीसारशूलार्त्ताः, श्वासिनो हिक्किनः कृशाः ।
पतिताभिहतोन्मत्ताः, क्लान्ता यानप्रजागरैः ।।

७. क्रोधशोकभयक्लान्ता दिवास्वप्नोचिताश्च ये ।
सर्व एते दिवास्वप्नं, सेवेरन् सार्वकालिकम् ।। (च.सू.२१.३४-४१)

८. ग्रीष्मे चादानरूक्षाणां, वर्धमाने च मारुते ।
रात्रीणां चातिसंक्षेपाद्, दिवास्वप्नः प्रशस्यते ।।

९. ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु, दिवास्वप्नात् प्रकुप्यतः ।
श्लेष्मपित्ते दिवास्वप्नस्तस्मात्तेषु न शस्यते ।।

---

३. बिना उचित समय के और समय पर भी अत्यधिक रूप से सेवन की गई और सर्वथा सेवन न की गई निद्रा, दूसरी कालरात्रि (मृत्यु रात्रि) सी बनी हुई, मनुष्य को सुख और आयु से वियुक्त कर देती है ।

४. वही निद्रा उचित रूप से सेवन की हुई मनुष्य को वैसे ही सुख और आयु से संयुक्त कर देती है, जैसे उत्पन्न हुई सत्य बुद्धि (ऋतम्भरा प्रज्ञा) योगी मनुष्य को सिद्धि से युक्त कर देती है ।

५-७. गीत, अध्ययन, मद्यपान, स्त्रीप्रसङ्ग, अधिक कार्य, भारवहन और अधिक पैदलयात्रा इनसे थके हुए; अजीर्ण रोग वाले, चोट वाले, क्षीण, वृद्ध, बच्चे, बलहीन, अतिप्यास-दस्त-पीड़ा इनके रोगी; दमे वाले, हिचकी वाले, कमजोर, गिरकर पीड़ित हुए, मार खाये हुए, उन्माद रोगी, वाहन की यात्रा तथा रात्रिजागरण से थके हुए; क्रोध-शोक-भय इनसे थके हुए तथा दिवाशयन के योग्य जन-ये सब, सभी समयों में दिन में सोने के अधिकारी हैं ।

८. ग्रीष्म काल में सूर्य किरणों द्वारा रस का निरन्तर ग्रहण होने से रूक्षता होने के कारण, वायु के बढ़ जाने से और रात्रियों के बहुत छोटे होने से दिन में सोना उचित माना जाता है ।

९. किन्तु ग्रीष्म को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में सोने से कफ और पित्त कुपित हो जाते हैं, इसलिये उन ऋतुओं में दिन में शयन उचित नहीं माना जाता है ।

१०. देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः ।
स्वप्नाहारसमुत्थे च, स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः ॥

११. अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानं, ग्राम्यानूपोदका रसाः ।
शाल्यन्नं सदधि क्षीरं स्नेहो गदं मनःसुखम् ॥

१२. मनसोऽनुगुणा गन्धाः, शब्दाः संवाहनानि च ।
चक्षुषस्तर्पणं लेपः, शिरसो वदनस्य च ॥

१३. स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म, सुखं कालस्तथोचितः ।
आनयन्त्यचिरान्निद्रां, प्रनष्टा या निमित्ततः ॥

(च.सू.२१.४३,४४,५१,५२-५४)

१४. निद्रा तु सेविता काले, धातुसाम्यमतन्द्रताम् ।
पुष्टिं वर्णं बलोत्साहमग्निदीप्तिं करोति वै ॥

---

१०. शरीर के स्वस्थ रखने में जैसा भोजन का महत्त्व है, वैसा ही सुखकारी निद्रा का महत्त्व है । विशेष रूप से, स्थूलता और पतलापन तो शयन तथा भोजन से उत्पन्न होने वाले हैं ।

११-१३. यदि निद्रा किसी कारण से उचट गई हो तो–मालिश, पांवों से (कमर, पीठ, या पुट्ठों का) दबाना, स्नान, ग्राम और जलबहुल देश के जल, उत्तम रस, साठी चावल का दहीयुक्त भात, दूध, घी आदि चिकने पदार्थ, मन को सुखकारी औषध; मन को रुचिकर गन्ध और शब्द; हाथों के द्वारा अङ्गों का दबाया जाना, आँखों का घृतादि से तर्पण, सिर तथा मुख पर लेप करना, सुन्दर बिछाया हुआ बिस्तर, सुखप्रद कमरा और निद्रा का उचित समय; ये सब शीघ्र ही निद्रा को लाने वाले हैं ।

१४. उचित समय पर सेवन की गई निद्रा धातुओं में समता बनाये रखती है और आलस्य को दूर रखती है तथा शरीर की पुष्टि, उत्तम रंग, बल, उत्साह और जठराग्नि की वृद्धि करती है ।

ब्रह्मचर्यम्

१. ओ३म् ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ (अथर्व.११.५.१९)

२. ब्रह्मचर्यस्य च गुणं, शृणु त्वं वसुधाधिप ।
आजन्ममरणाद्यस्तु, ब्रह्मचारी भवेदिह ॥

३. न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ।
बह्व्यः कोट्यस्तु ऋषीणां ब्रह्मलोके वसन्त्युत ॥

४. सत्ये रतानां सततं, दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन्, सर्वपापान्युपासितम् ॥ (महाभा.)

५. मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित्प्रमत्त-मृगराज-वधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥ (शृ.५८)

६. ब्रह्म वै मृत्यवे सर्वाः प्रजाः प्रायच्छत् ।
तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत् ॥ (शत.११.३.३.१)

---

१. ब्रह्मचर्य के द्वारा दिव्यगुणधारी विद्वान् जन मृत्यु को दूर भगा देते हैं । ऐसे दिव्य विद्वानों के लिये ऐश्वर्यशाली परमेश्वर ब्रह्मचर्य के कारण ही सम्पूर्ण सुख वितरित करता है ।

२-३. हे राजन्! तू ब्रह्मचर्य के गुण सुन । जो जन्म से लेके मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारी रहता है, उसके लिये कोई वस्तु या गुण अप्राप्तव्य नहीं रहता, ऐसा समझो । अतएव अनेक करोड़ों ऋषिजन (ब्रह्मचर्य से ही) मुक्ति की अवस्था को पाके ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं ।

४. सदा सत्य में रुचि रखने वाले, मन को वश में रखने वाले और वीर्य की पूर्ण रक्षा करने वाले मनुष्यों के द्वारा सेवन किया गया ब्रह्मचर्य सब पापों को भस्म कर देता है ।

५. मदमस्त हाथियों की बलशाली कनपटियों को झकझोरने में समर्थ अनेक शूरमा इस पृथिवी पर अवश्य हैं और कुछ वीर प्रचण्ड सिंहों के मारने में भी निपुण अवश्य हैं । किन्तु मैं समस्त बलशालियों के समक्ष चुनौती के साथ कहता हूँ, कि प्रबल कामदेव के मद को पछाड़ने में तो कोई विरले ही मनुष्य होंगे ।

६. परमेश्वर ने सब प्रजाओं को मृत्यु के वशीभूत कर दिया, किन्तु उसने ब्रह्मचारी को मृत्यु के वश में नहीं किया । (अतएव ब्रह्मचारी मृत्युञ्जयी होता है ।)

७. तस्मात्पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरक्षन् शुक्रमनुरक्षेत् ।
परा ह्येषा फलनिर्वृत्तिराहारस्येति ॥

८. आहारस्य परं धाम, शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।
क्षये ह्यस्य बहून् रोगान्, मरणं वा निगच्छति ॥ (च.नि.६.९,१०)

—

व्यायामः

१. शरीरायासजननं, कर्म व्यायामसञ्ज्ञितम् ।
तत् कृत्वा तु सुखं देहं, विमृद्नीयात्समन्ततः ॥

२. शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता ।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं, स्थिरत्वं लाघवं मृजा ॥

३. श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता ।
आरोग्यं चापि परमं, व्यायामादुपजायते ॥

४. न चास्ति सदृशं तेन, किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम् ।
न च व्यायामिनं मर्त्यमर्दयन्त्यरयो बलात् ॥

---

७. अतः बुद्धिमान् मनुष्य अपने शरीर की रक्षा करता हुआ पहिले वीर्य की रक्षा करे । निश्चय ही वीर्य, खाये हुए भोजन का परम सार है ।

८. खाये हुए भोजन का उत्तम सार वीर्य है, अतः मनुष्य को अपने वीर्य की रक्षा करनी चाहिये । इस वीर्य का क्षय हो जाने पर मनुष्य अनेक प्रकार के रोगों को अथवा मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है ।

—

१. शरीर को श्रमयुक्त करने को ही व्यायाम कहते हैं । व्यायाम करके मनुष्य अपने शरीर को चारों ओर से हल्का हल्का मसले ।

२-३. शरीर की वृद्धि, चमक (तेज), सब अङ्गों की सुडौलता, जठराग्नि की तीव्रता, आलस्य का अभाव, स्थिरता, हल्कापन, निर्मलता; परिश्रम-थकावट-प्यास-गर्मी-सर्दी इनको सहने की शक्ति और उत्तम स्वास्थ्य-ये सब लाभ व्यायाम से उत्पन्न होते हैं ।

४. मोटापे को घटाने के लिये व्यायाम जैसा अन्य कोई उपाय नहीं है । और व्यायाम के अभ्यासी मनुष्य को शत्रु भी जबर्दस्ती पीड़ित नहीं कर सकते ।

५. न चैनं सहसा ऽऽक्रम्य, जरा समधिरोहति ।
स्थिरीभवति मांसं च, व्यायामाभिरतस्य तु ।।

६. व्यायामक्षुण्णगात्रस्य, पद्भ्यामुद्वर्त्तितस्य च ।
व्याधयो नोपसर्पन्ति, सिंहं क्षुद्रमृगा इव ।।

७. वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात् सुदर्शनम् ।
व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम् ।।

८. विदग्धमविदग्धं वा, निर्दोषं परिपच्यते ।
व्यायामो हि सदा पथ्यो, बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ।।

९. स च शीते वसन्ते च, तेषां पथ्यतमः स्मृतः ।
सर्वेष्वृतुष्वहरहः, पुम्भिरात्महितैषिभिः ।।

१०. बलस्यार्धेन कर्त्तव्यो, व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा ।
हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते ।।

११. व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद् बलार्धस्य लक्षणम् ।
वयोबलशरीराणि, देशकालाशनानि च ।।

---

५. और न ही व्यायामशील को बुढ़ापा अचानक आकर घेरता है । अपितु व्यायामी मनुष्य का मांस दृढ़ हो जाता है ।

६. व्यायाम से कमाये हुए शरीर वाले और पांवों पर मालिश करने वाले मनुष्य के पास रोग वैसे ही नहीं फटकते हैं, जैसे सिंह के पास छोटे हरिण आदि पशु ।

७-८. नवीन आयु और सुन्दर रूप से रहित मनुष्य को भी व्यायाम, सुन्दर दर्शनीय बना देता है । नित्य व्यायाम करने वाले मनुष्य के द्वारा; विरुद्ध गुण वाला, पका या कच्चा भी भोजन खा लिया जाता है, तो वह भी पच जाता है और कोई दोष उत्पन्न नहीं करता है । बलवान् और चिकने पदार्थ खाने वाले मनुष्यों के लिये तो व्यायाम सदा हितकारी है ।

९. सर्दी के मौसम में और वसन्त ऋतु में तो व्यायाम अत्यन्त ही हितकारक है । अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को सभी ऋतुओं में प्रतिदिन (व्यायाम करना चाहिये) ।

१०-१४. अपने बल के आधे सामर्थ्य से व्यायाम करना चाहिये । इससे अधिक करने से, व्यायाम पीड़ा-जनक हो जाता है । व्यायाम करते समय व्यायामी मनुष्य के हृदयस्थान में स्थित वायु, जब मुख तक पहुँच जाय तो यह उसके बल के आधे की पहिचान है । आयु, बल, शरीर, देश, काल और भोजन को ध्यान में रखकर ही मनुष्य व्यायाम करे । अन्यथा यह रोग को प्राप्त हो सकता है । क्षय (राजयक्ष्मा),

१२. समीक्ष्य कुर्याद् व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात् ।
क्षयतृष्णाऽरुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमाः ॥

१३. कासशोषज्वरश्वासा, अतिव्यायामसम्भवाः ।
रक्तपित्ती कृशः शोषी, श्वासकासक्षतातुरः ॥

१४. भुक्तवान् स्त्रीषु च क्षीणस्तृड्भ्रमार्त्तश्च वर्जयेत् ॥
(सु.चि.२४.३८-५१)

—

श्रद्धा

१. श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः ।
सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति ॥ (योग.व्या.२.२०)

२. श्रदिति सत्यमेवाहुर्धारणं धोच्यते बुधैः ।
यया हि धार्यते सत्यं, वृत्त्या श्रद्धेति सा मता ॥ ( )

३. श्रद्धयाग्निः सम्ध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ (ऋ.१०.१५१.१)

अतिपिपासा, अरुचि, वमन, रक्तपित्त, भ्रम (चक्कर आना), थकावट, खांसी, सूखापन, बुखार और दमा ये रोग अतिव्यायाम से उत्पन्न होते हैं । रक्तपित्त से ग्रसित, कमजोर, सूखे शरीर वाला; दमा-खांसी-घाव इनसे युक्त, तुरन्त भोजन किया हुआ और स्त्री-प्रसङ्ग से दुर्बल व्यक्ति और अतिपिपासा तथा चक्कर आने के रोग वाला व्यक्ति व्यायाम को त्याग दे ।

—

१. चित्त की प्रसन्नता – निर्मलता का नाम श्रद्धा है । वह श्रद्धा निश्चय ही माता के समान कल्याणकारिणी होकर योगी की रक्षा करती है ।

२. 'श्रत्' सत्य को ही कहते हैं और 'धा' नाम धारण करने का है, ऐसा विद्वानों ने कहा है । जिससे सत्य को धारण किया जाय उस वृत्ति को श्रद्धा माना गया है ।

३. श्रद्धा से ही अग्नि प्रदीप्त की जाती है और श्रद्धा से ही आहुति दी जाती है । भग अर्थात् ज्ञान, कीर्ति, श्री आदि ऐश्वर्यों की शिरोमणि-भूत श्रद्धा को हम स्ववचन से सबको प्राप्त कराते हैं ।

४. श्रद्धया साध्यते धर्मो, महद्भिर्नार्थराशिभिः ।
अकिञ्चना हि मुनयः, श्रद्धावन्तो दिवं गता. ॥ ( )

५. अश्रद्धा परमं पापं, श्रद्धा पाप-प्रमोचनी ।
जहाति पापं श्रद्धावान्, सर्पो जीर्णामिव त्वचम् ॥
(महाभा.शा.२६४.१५)

६. सत्त्वानुरूपा सर्वस्य, श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
(महाभा.भी.४१.३)

७. श्रद्धयेष्टं च पूर्त्तं च, नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षते ते, भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ (मनु.४.२२६)

८. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (महाभा.भी.२८.३०)

---

४. श्रद्धा से ही धर्म सिद्ध किया जाता है, बड़ी बड़ी धन सम्पत्तियों से नहीं । अतः सर्वथा धनरहित होते हुए भी अनेक श्रद्धालु मुनिगण मोक्ष को प्राप्त हो गये ।

५. श्रद्धा न रखना परम पाप है, जबकि श्रद्धा अनेक पापों से मुक्त कराने वाली है । श्रद्धालु मनुष्य वैसे ही पाप को त्याग देता है, जैसे सांप पुरानी केंचुली को ।

६. हे भरतवंशी अर्जुन ! सब मनुष्यों की, अपने अपने अन्तःकरण के अनुरूप ही श्रद्धा होती है । यह मनुष्य श्रद्धामय है । जो जैसी श्रद्धा वाला होता है, वैसा ही उसका जीवन होता है ।

७. गृहस्थ प्रतिदिन आलस्य रहित होकर यज्ञादि 'इष्ट' और सर्वजनोपयोगी कूपनिर्माण आदि 'पूर्त्त' कार्य करता रहे । उत्तम उपायों से प्राप्त धन के द्वारा श्रद्धापूर्वक किये गये 'इष्ट' और 'पूर्त्त' कार्य चिरस्थायी फल देने वाले होते हैं ।

८. श्रद्धालु मनुष्य, तल्लीन और जितेन्द्रिय होकर ज्ञान को प्राप्त कर लेता है । ज्ञान को प्राप्त करके शीघ्र ही वह परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

—

धर्मः

१. **एक एव सुहृद्धर्मो, निधनेऽप्यनुयाति यः ।**
शरीरेण समं नाशं, सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ (मनु.८.१७)

२. **को हि जानाति कस्याद्य, मृत्युकालो भविष्यति।**
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ॥ (महाभा.शा.१७५.१६)

३. **धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद्, वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।**
परलोकसहायार्थं, सर्वभूतान्यपीडयन् ॥

४. **नामुत्र हि सहायार्थं, पिता माता च तिष्ठतः ।**
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ (मनु.४.२३८,२३९)

५. **धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने ।**
देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥ ( )

६. **मृतं शरीरमुत्सृज्य, काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।**
विमुखा बान्धवा यान्ति, धर्मस्तमनु गच्छति ॥

---

१. धर्म ही एकमात्र सच्चा मित्र है, जो मृत्यु के पश्चात् भी मनुष्य के साथ जाता है । अन्य सब कुछ तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है ।

२. कौन जानता है कि आज किसकी मृत्यु का समय उपस्थित होगा । अतः मनुष्य युवावस्था से ही धार्मिक बने, क्योंकि यह जीवन निश्चय ही अनित्य है ।

३. परलोक में सहायता के लिये, किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाते हुए उसी प्रकार धीरे-धीरे धर्म का सञ्चय करे, जैसे दीमक अपनी बांबी को धीरे-धीरे बनाती है ।

४. परलोक में सहायता के लिये न माता-पिता उपस्थित होते हैं और न पुत्र, स्त्री तथा सगे सम्बन्धी; अपितु केवल मात्र अपना धर्म ही सहायतार्थ उपस्थित रहता है ।

५. मृत्यु के समय धन भूमि में गड़े रह जाते हैं, पशु स्वस्थान में और पत्नी गृह-द्वार पर ही रुक जाती है और दाहकर्ता लोग श्मशान तक मृत शरीर के साथ जाते हैं । तथा मृतदेह भी चिता में भस्म हो जाता है। (इनमें से कोई साथ नहीं जाता) परलोक के मार्ग में तो जीवात्मा को अकेले ही जाना पड़ता है। केवल धर्म उसके साथ जाता है।

६. मृत्यु होने पर बन्धुबान्धव मृतक के शरीर को काठ अथवा पाषाण के समान श्मशान-भूमि में त्यागकर मुख फेरकर अपने घर चले जाते हैं, केवल धर्म ही उस मृतक के आत्मा का अनुगमन करता है ।

७. तस्माद्धर्मं सहायार्थं, नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन, तमस्तरति दुस्तरम् ॥ (मनु.४.२४१,२४२)

८. चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवितयौवनम् ।
चलाऽचले च संसारे, धर्म एको हि निश्चलः ॥ (वैराग्य.११९)

९. इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि, पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥

१०. नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वाऽनित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये, सन्तुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥
(महाभा.उ.४०.१२,१३)

११. धर्म एव हतो सन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतो वधीत् ॥ (मनु.८.९५)

१२. आधि-व्याधि-परीताय, ह्यद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय, धर्मापेतं समाचरेत् ॥ (काम.३.९)

---

७. इसलिये मनुष्य अपने साहाय्य के लिये प्रतिदिन शनैःशनैः धर्म का सञ्चय करे । धर्म रूपी सहायक के द्वारा मनुष्य दुस्तर अविद्या-अन्धकार से पार हो जाता है ।

८. यह धन सम्पत्ति चञ्चल है और प्राण, जीवन तथा यौवन भी चञ्चल हैं । इस चल तथा अचल वस्तुओं वाले संसार में, एक धर्म ही निश्चल है ।

९-१०. हे प्रिय ! मैं तुम्हें इस अतिविशिष्ट, सबसे श्रेष्ठ और पुण्यकारी विशेष ज्ञातव्य (पद) रहस्य को बताता हूँ–मनुष्य काम, भय अथवा लोभ के कारण से धर्म को न त्यागे, जीवन-लाभ के कारण से भी धर्म को न छोड़े । क्योंकि धर्म नित्य है और सुख दुःख अनित्य हैं; जीवात्मा नित्य है और उसको संसार में प्रवृत्त करने वाले विषय आदि अनित्य हैं । अतः अनित्य का त्याग करके नित्य में स्थिर हो जाओ । इसी में सन्तुष्ट रहो । सन्तोष-परायणता ही सच्चा लाभ है ।

११. मारा हुआ धर्म मारने वाले को मार देता है और रक्षा किया हुआ धर्म अपने रक्षक की रक्षा करता है । इसलिये धर्म का हनन नहीं करना चाहिये, ऐसा न हो कि हनन किया हुआ धर्म हमें नष्ट कर दे ।

१२. चिन्ता, रोग आदि से परिपूर्ण और आज या कल (शीघ्र) नष्ट हो जाने वाले इस शरीर के लिये, ऐसा कौन होगा जो धर्म से विरुद्ध आचरण करे ।

१३. बलवानप्यशक्तो ऽसौ, धनवानपि निर्धनः ।
श्रुतवानपि मूर्खश्च, यो धर्मविमुखो जनः ॥ (भोज.३४)

१४. परित्यजेदर्थकामौ, यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाऽप्यसुखोदर्कं, लोकविक्रुष्टमेव च ॥ (मनु.४.१७६)

१५. न सीदन्नपि धर्मेण, मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम् ॥

१६. नाधर्मश्चरितो लोके, सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु, कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥

१७. अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥ (मनु.४.१७१,१७२,१७४)

१८. अर्थाः पादरजोनिभा गिरिनदी-वेगोपमं यौवनम् ।
आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं, फेनोपमं जीवनम् ॥
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः, स्वर्गार्गलोद्घाटनम् ।
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥ (हि.मि.१५३)

---

१३. वह व्यक्ति बलवान् होते हुए भी निर्बल है, धनवान होते हुए भी निर्धन है और विद्वान् होते हुए भी मूर्ख है, जो कि धर्म से विमुख है ।

१४. उस अर्थ और काम को त्याग देवे जो धर्म से विहीन हो, उस धर्म (धर्माभास) को भी त्याग दे जो दुःख का कारण बने और जो लोगों को क्रुद्ध करने वाला हो ।

१५. मनुष्य को धर्म पर दृढ़ रहते हुए यदि कष्ट भी पाना पड़े तो भी; अधर्मयुक्त पापकर्मों का दुःखरूप फल होता है, यह विचार करते हुए वह अपने मन को अधर्म में न लगावे।

१६. किया हुआ अधर्म गौ के समान शीघ्र फलित नहीं होता, किन्तु वह धीरे-धीरे अपना प्रभाव बढ़ाता हुआ उस अधर्मी की जड़ों को ही काट देता है ।

१७. अधर्मकर्त्ता मनुष्य अधर्म से पहिले बढ़ता है, तदनन्तर भद्र (सुखों) को देखता है । तब शत्रुओं को भी जीत लेता है (किन्तु अन्त में) मूल सहित नष्ट हो जाता है ।

१८. धनैश्वर्य पांवों में लगी धूलि के समान है, पर्वतीय नदी के वेग के सदृश यौवन है; आयु, पानी की चलायमान बिन्दु के समान चञ्चल है और झाग के समान जीवन (अस्थिर) है । ऐसी स्थिति में जो मनुष्य सात्त्विक सांसारिक सुख और मुक्तिसुख रूपी भवन की अर्गला (आगल) के समान वर्त्तमान धर्म का आचरण नहीं करता, वह बुढ़ापे से ग्रस्त होकर पश्चात्ताप करता हुआ शोक रूपी अग्नि से जलता रहता है।

१९. यन्नागा मदभिन्नगण्डकवहास्तिष्ठन्ति निद्रालसा,
द्वारे हेमविभूषणाश्च तुरगा वल्गन्ति यद्दर्पिताः ।
वीणावेणुमृदङ्गशङ्खपटहैः सुप्तस्तु यद् बोध्यते
तत्सर्वं सुरलोकदेवसदृशं, धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥ ( )

२०. धर्मेण राज्यं विन्देत, धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य, न जहाति न हीयते ॥ (महाभा.उद्यो.३४.३१)

२१. अर्थकामेष्वसक्तानां, धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां, प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ (मनु.२.१३)

२२. धर्मं प्रसङ्गादपि नाचरन्ति, पापं प्रयत्नेन समाचरन्ति ।
आश्चर्यमेतद्धि मनुष्यलोकेऽमृतं परित्यज्य विषं पिबन्ति ॥ ( )

२३. वेदोऽखिलो धर्ममूलं, स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ (मनु.२.६)

२४. सर्वं तु समवेक्ष्येदं, निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ (मनु.२.८)

---

१९. (किसी ऐश्वर्यशाली मनुष्य के) द्वार पर जो ये मदजल से सिक्त कनपटियों वाले मदमस्त हाथी अलसाये खड़े हैं और जो ये स्वर्णाभूषणों से सजे हुए घोड़े मस्ती में हिनहिना रहे हैं । तथा ये स्वयं जो प्रातःकाल वीणा, वंशी, ढोलक, शङ्ख और नगाड़ों की मङ्गलध्वनि के द्वारा शयन से जगाये जाते हैं और इस प्रकार देववसति के वासी के समान जो इनका सुखभोग है; यह सब पूर्व में आचरण किये गये धर्म का ही फल है ।

२०. धर्म से राज्य को प्राप्त करे और धर्म से ही उसका पालन करे । धर्म से प्राप्त की हुई लक्ष्मी को न तो वह धार्मिक त्यागता है (उड़ाता है) और न लक्ष्मी उसे त्यागती है ।

२१. अर्थ और कामनाओं में अनासक्त मनुष्यों को ही धर्म का ज्ञान होता है । धर्म को जानने की इच्छा वालों के लिये वेद ही परम प्रमाण हैं ।

२२. लोग धर्म का तो किसी प्रसङ्ग के मिष से भी आचरण नहीं करते और पाप का तो प्रयत्न-पूर्वक आचरण करते हैं । मानव-संसार में यह एक अद्भुत बात है, कि लोग अमृत को त्यागकर विष को पीते हैं ।

२३. सम्पूर्ण वेद, धर्म का मूल (स्त्रोत) है और वेदज्ञाताजनों द्वारा निर्मित शास्त्र (स्मृति), वेदज्ञों का स्वभाव, सत्पुरुषों का आचरण तथा अन्तरात्मा की तुष्टि ये भी धर्म के मूल हैं ।

२४. धर्म के इन सब स्रोतों को ज्ञान रूपी नेत्र से अच्छी प्रकार देखकर, (विशेष रूप से) वेद को प्रमाण मानकर विद्वान् मनुष्य अपने धर्म में दृढ़ रहे ।

२५. वेदः स्मृतिः सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः, साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ (मनु.२.१२)

२६. श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति, प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ (मनु.२.९)

२७. आर्षं धर्मोपदेशं च, वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते, स धर्मं वेद नेतरः ॥ (मनु.१२.१०६)

२८. अनाम्नातेषु धर्मेषु, कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः, स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥

२९. धर्मेणाधिगतो यैस्तु, वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः, श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ (मनु.१२.१०८,१०९)

३०. एकोऽपि वेदविद्धर्मं, यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो, नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ (मनु.१२.११३)

३१. श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥ ( )

---

२५. वेद, स्मृति शास्त्र, सत्पुरुषों का आचरण और स्वात्मा की प्रियता इन चारों को विद्वानों ने धर्म का साक्षात् लक्षण कहा है ।

२६. वेद और स्मृति में प्रतिपादित धर्म का अनुष्ठान करने वाला मनुष्य इस लोक में यश को प्राप्त करता है और मृत्यु के पश्चात् अत्युत्तम सुख को पाता है ।

२७. वेदशास्त्र के विरुद्ध न जाने वाले तर्क के माध्यम से, जो परमर्षि परमेश्वर द्वारा प्रणीत वेद और अन्य ऋषिप्रणीत शास्त्रों का तथा धार्मिक उपदेशों का अनुसन्धान करता है, वही धर्म को समझता है, अन्य नहीं ।

२८. जिन धर्मों (कर्त्तव्यों) के विषय में वेदादि शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख नहीं हो, उनके विषय में क्या करें, यह समस्या हो, तो उन विषयों में वर्त्तमान शिष्ट, (आप्त=धर्मात्मा विद्वान् जन) जैसा निर्णय दें, वही निस्सन्दिग्ध धर्म है, यह जानें ।

२९. जिन्होंने धर्मपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेद का अनुशीलन किया है । उन वेद और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विधिनिषेध-व्यवस्था के अधिकारीजनों को ही शिष्ट ब्राह्मण समझना चाहिये ।

३०. एक भी वेदज्ञाता द्विजोत्तम विद्वान् जिस बात को 'धर्म' घोषित करे, उसे परम धर्म समझना चाहिये और सहस्रों अज्ञानियों के द्वारा भी कही गई बात को धर्म न समझें ।

३१. धर्म के परम सार को सुनिये और सुनकर उसको धारण कीजिये । (धर्म का परमसार है—) अपने को प्रतिकूल (कष्टकारी) लगने वाले आचरण दूसरों के प्रति न करें ।

३२. प्रभवार्थाय भूतानां, धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं, स धर्म इति निश्चयः ।
अहिंसार्थाय भूतानां, धर्मप्रवचनं कृतम् ॥

३३. धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं, स धर्म इति निश्चयः ॥ (महाभा.क.६९.५६-५८)

३४. इज्याध्ययनदानानि, तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं, धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥

३५. चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः, सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ (मनु.६.९१)

३६. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम् ॥ (मनु.६.९२)

---

३२. प्राणियों के बने रहने के लिये (उनकी रक्षा के लिये) ही धर्म का विशेष व्याख्यान किया गया है । जो अहिंसा से युक्त होवे वही धर्म है ऐसा निश्चित जानो । प्राणियों को हिंसा से बचाने के लिये ही धर्म का प्रवचन किया गया है ।

३३. धारण करने का गुण होने के कारण ही धर्म को 'धर्म' कहते हैं, 'धर्म' प्रजाओं को धारण करता है–उन्हें जीवित रखता है । अतः जो कर्म जीवन-धारण से युक्त हो वही धर्म है, ऐसा निश्चय जानो ।

३४. यज्ञ, अध्ययन, दान, तपस्या, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता; यह आठ प्रकार का धर्म का मार्ग बताया गया है ।

३५. ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी इन चारों आश्रमियों और द्विजों को प्रयत्न-पूर्वक दशलक्षण वाले धर्म का पालन करना चाहिये ।

३६. धैर्य, क्षमा (सहनशीलता), दम (मन को वश में रखना), अस्तेय, शौच (पवित्रता), इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि का विकास, विद्या, सत्य और क्रोध न करना ये दश धर्म के लक्षण हैं ।

—

धृतिः (धैर्यम्)

१. पुत्रदारैः सुखैश्चैव, वियुक्तस्य धनेन वा ।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे, धृतिः श्रेयस्करी नृप ॥ (महाभा.शा.२२७.३)

२. धैर्येण युक्तस्य सतः, शरीरं न विशीर्यते ।
विशोकता सुखं धत्ते, धत्ते चारोग्यमुत्तमम् ॥ (महाभा.शा.२२७.४)

३. कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा यान्ति कदाचिदेव ॥
(नीति.१०७)

४. त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले, धैर्यात् कदाचित् स्थितिमाप्नुयाद्धि ।
जाते समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे, सांयात्रिको वाञ्छति तर्त्तुमेव ॥
( )

५. धृत्या यया धारयते, मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या, धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
(महाभा.भी.४२.३३)

---

१. हे राजन् ! पुत्र, स्त्री, सुख, और धन से वियुक्त और भारी विपत्ति में निमग्न व्यक्ति के लिये भी धैर्य ही कल्याणकारी है ।

२. धैर्य से युक्त मनुष्य का शरीर शीघ्र नष्ट नहीं होता । धैर्यशाली मनुष्य शोक से रहित होकर सुख और उत्तम स्वास्थ्य को धारण करता है ।

३. धैर्यशाली मनुष्य को तिरस्कृत करने पर भी उसके धैर्य गुण को मिटाया नहीं जा सकता । (जैसे कि) प्रज्वलित अग्नि के (ज्वालायुक्त काष्ठ आदि के) मुख को नीचे करने पर भी उसकी ज्वालाएँ कभी नीचे की ओर नहीं जातीं ।

४. कठिनाई के समय के उपस्थित होने पर भी धैर्य नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धैर्य से मनुष्य किसी समय में पुनरपि अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त कर सकता है । (जैसे कि) समुद्र के मध्य में जलपोत के टूट जाने पर भी उस पोत का यात्री तैर कर बच जाने की ही कामना करता है ।

५. हे अर्जुन ! मनुष्य, अपने लक्ष्य से भ्रष्ट न होने वाली जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति (धैर्य) सात्त्विक धृति है ।

६. व्यसने वाऽर्थकृच्छ्रे वा, भये वा जीवितान्तगे ।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या, धृतिमान् नावसीदति ॥ (वाल्मी.कि. ७.९)

७. कान्ताकटाक्षविशिखा, न लुनन्ति यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥ (नीति.१०८)

८. निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ (नीति.८४)

९. सुखं च दुःखं च भवाभवौ च, लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति, तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥
(महाभा.उ.३६.४७)

१०. विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः ।
वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ॥
( )

---

६. विपत्ति में, आर्थिक दुर्दशा होने पर अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होने पर भी धैर्यशाली पुरुष अपनी बुद्धि से (उपायों का) चिन्तन करता हुआ कभी दुःखी नहीं होता ।

७. जिसके चित्त को स्त्रियों के कटाक्ष रूपी बाण विच्छिन्न नहीं करते, क्रोध रूपी अग्नि का ताप नहीं जलाता और रूप, स्पर्श आदि अनेक विषय अपने लोभ रूपी जाल में नहीं फँसाते वह धैर्यशाली पुरुष, इस सम्पूर्ण त्रिलोकी को जीत लेता है ।

८. नीति में निपुण जन चाहे निन्दा करें अथवा प्रशंसा करें, धनसम्पत्ति आवे अथवा स्वेच्छा से चली जावे और भले ही आज ही मृत्यु हो जावे अथवा चिर-काल बाद होवे, किन्तु धैर्यशाली मनुष्य न्याय के मार्ग से पग भर भी विचलित नहीं होते हैं ।

९. सुख और दुःख, उत्पत्ति और विनाश, लाभ और हानि तथा मरण और जीवन, ये बारी-बारी से सबको प्राप्त होते रहते हैं, अतः धैर्यशाली मनुष्य को इनके लिये हर्ष या शोक नहीं करना चाहिये ।

१०. विकार के कारण के उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं होता, वे ही धीर मनुष्य हैं । रागयुक्त मनुष्यों के जीवन में तो वन में रहने पर भी दोष उत्पन्न हो जाते हैं और पांचों इन्द्रियों को वश में रखने वाले तो गृह में रहते हुए भी तप कर सकते हैं ।

११. धृतिर्नाम सुखे दुःखे यया नाप्नोति विक्रियाम् ।
तां भजेत सदा प्राज्ञो, य इच्छेद् गतिमात्मनः ॥
(महाभा.शा. १६२.१९)

—

क्षमा

१. नातः श्रीमत्तरं किञ्चिदन्यत् पथ्यतमं मतम् ।
प्रभविष्णोर्यथा तात, क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥ (महाभा.उ. ३९.५८)

२. एकः क्षमावतां दोषो, द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥

३. सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः, क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां, शक्तानां भूषणं क्षमा ॥
(महाभा.उ.३३.४८,४९)

४. क्षमेदशक्तः सर्वस्य, शक्तिमान् धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य, तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥
(महाभा.उ.३९.५९)

---

११. सुख में अथवा दुःख में, जिसके कारण मनुष्य विकार को प्राप्त नहीं होता उसे धृति कहते हैं । जो बुद्धिमान् मनुष्य अपनी उत्तम गति चाहता हो, वह उस धृति (धैर्य) का सेवन करे ।

—

१. हे तात! समर्थ मनुष्य के लिये सब स्थानों में और सब कालों में क्षमा के समान हितकारक और अत्यन्त धनसम्पन्न बनाने वाला अन्य कोई उपाय नहीं है ।

२-३. क्षमाशील मनुष्यों में एक को छोड़कर अन्य कोई दोष नहीं माना जाता है और वह एक दोष यह है, कि क्षमाशाली मनुष्य को लोग निर्बल समझते हैं । किन्तु इसे क्षमाशील का दोष नहीं मानना चाहिये, क्योंकि क्षमा निश्चय ही उत्कृष्ट बल है । क्षमा, निर्बलों का गुण है और बलवानों का आभूषण ।

४. निर्बल मनुष्य अपने असामर्थ्य के कारण सबको सहन करे, जबकि बलवान् धर्म के कारण सबको क्षमा करे । जिसकी दृष्टि में अर्थ और अनर्थ दोनों समान हैं, उसके लिये तो क्षमा नित्य ही हितकाकरक है ।

५. क्षन्तव्यमेव सततं, पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। (महाभा.वन. २९.४२)

६. क्षमा वशीकृतिर्लोके, क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य, किं करिष्यति दुर्जनः ।।

७. अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ।।
(महाभा.उ.३३.५०,५१)

—

दमः

१. दमेन सदृशं धर्मं, नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
दमो हि परमो लोके, प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ।। (महाभा.शा.१६०.१०)

२. दमस्तेजो वर्धयति, पवित्रं दम उच्यते ।
विपाप्मा निर्भयो दान्तः, पुरुषो विन्दते महत् ।। ( )

३. सुखं दान्तः प्रस्वपिति, सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं लोके विपर्येति, मनश्चास्य प्रसीदति ।।
(महाभा.शा.२२०.४,५)

---

५. विशेष ज्ञानवान् मनुष्य को निरन्तर क्षमा गुण ही अपनाना चाहिये । जब मनुष्य सबको क्षमा कर देता है, तो तब वह बड़ा बन जाता है ।

६. क्षमा संसार में सबको वश में करने वाली है, क्षमा से क्या सिद्ध नहीं किया जा सकता? शान्ति रूपी तलवार जिसके हाथ में है, उसका दुष्ट मनुष्य क्या (बिगाड़) कर सकेगा ?

७. बिना घास वाली भूमि पर गिरी हुई अग्नि स्वयं ही शान्त हो जाती है । जबकि क्षमारहित मनुष्य दूसरे को तथा अपने आप को अनेक दोषों से युक्त कर देता है ।

—

१. हमने सर्वलोकों में दम के समान दूसरा धर्म नहीं सुना है । सब धर्मात्माओं के लिये जगत् में दम ही सर्वश्रेष्ठ है ।

२. दम तेज को बढ़ाता है (अतः) दम को पवित्र कहा गया है । दम का अभ्यासी मनुष्य निष्पाप तथा निर्भीक होकर महान् फल को प्राप्त करता है ।

३. दम का अभ्यासी सुखपूर्वक सोता है और सुखपूर्वक जागता है । वह सुख से संसार में व्यवहार करता है और इसका मन प्रसन्न रहता है ।

४. दमेन हि समायुक्तो, महान्तं धर्ममश्नुते ।
सुखं दान्तः प्रस्वपिति, सुखं च प्रतिबुध्यते ॥

५. अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते ।
अनर्थांश्च बहूनन्यान्, प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥
(महाभा.शा.१६०.१२,१३)

६. न हृष्यति महत्यर्थे, व्यसने च न शोचति ।
स वै परिमितप्रज्ञः, स दान्तो द्विज उच्यते ॥
(महाभा.शा.२२०.१६)

७. नाऽदान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
क्रिया तपश्च सत्यं च, दमे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
(महाभा.शा.२२०.३)

---

४. दम से युक्त मनुष्य महान् धर्म को प्राप्त करता है । दमशाली सुखपूर्वक शयन करता है और सुखपूर्वक ही जागता है ।

५. दम से रहित मनुष्य बार-बार क्लेश को प्राप्त होता है और अपने दोषों से उत्पन्न अन्य अनेक अनर्थों को जन्म देता है ।

६. बड़े लाभ के होने पर जो प्रसन्न नहीं होता और आपत्ति आने पर शोक नहीं करता, वही संयत बुद्धिवाला विद्यावान् मनुष्य दान्त कहलाता है ।

७. जो दम से रहित है उसके कार्यों की सिद्धि ठीक प्रकार से नहीं होती है । उत्तम क्रिया, तपस्या और सत्य ये सब दम में प्रतिष्ठित रहते हैं ।

—

अस्तेयम्

१. ओ३म् यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने,
यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम् ।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च ॥
(ऋ.७.१०४.१०)

२. स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं,
तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति ॥ (योग.व्या.२.३०)

३. अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहता ॥
(शाण्डि.१.१)

४. अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि वा ।
मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः ॥

५. परद्रव्यापहारोऽत्र प्रोक्तो द्विविध एव वै ।
प्रकाशश्चाऽप्रकाशश्च, स ज्ञेयः सूक्ष्मया धिया ॥

---

१. हे ज्ञान-स्वरूप परमेश्वर ! जो हमारे अन्न के रस को नष्ट करना चाहता है अथवा जो हमारे घोड़ों के, हमारे गौओं के और हमारे शरीरों के रस (सार) को नष्ट करना चाहता है, तो ऐसा वह विघ्नकारी शत्रु चोर और चोरी करने का अभ्यासी नाश को प्राप्त होवे, वह अपने शरीर और पापी प्रजा से वियुक्त हो जावे ।

२. शास्त्रोक्त विधि के विपरीत (अर्थात् बिना अनुमति के) पराये द्रव्यों को अपना बनाना स्तेय (चोरी) कहलाती है और उसका न करना अस्तेय कहलाता है ।

३. मन, वचन, शरीर और कर्म के द्वारा पराये पदार्थों को हथियाने की इच्छा न होना ही 'अस्तेय' है ।

४. पराये तृण, रत्न, स्वर्ण और मोती आदि (के ग्रहण करने) में मन से भी जो प्रवृत्ति का न होना है वह अस्तेय है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं ।

५. पराये पदार्थों का हरण दो प्रकार का कहा गया है । एक प्रकट और दूसरा अप्रकट। उसे सूक्ष्म बुद्धि से समझना चाहिये ।

६. प्रकाशवञ्चनन्तत्र, नानापण्योपजीविभिः ।
प्रच्छन्नवञ्चनं तद्यत्, स्तेनाऽऽटविकादिभिः ॥
७. आत्मन्यनात्मभावेन, व्यवहारविवर्जितम् ।
यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महामते ॥ (जाबा.१.११,१२)
८. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ (योग.२.३७)
सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि (योग.व्यास.)

—

शौचम्

१. शौचं च द्विविधं प्रोक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं, भावशुद्धिस्तथाऽन्तरम् ॥ (दक्ष.)
२. सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ (मनु.५.१०६)
३. ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् ।
वायुः कर्मार्ककालौ च, शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ (मनु.५.१०५)

---

६. प्रकट रूप से पर पदार्थ का हरण वह है, जो अनेक प्रकार के व्यापारी व्यवसायी आदि द्वारा तोलमाप की गड़बड़ी या मिलावट आदि के द्वारा किया जाता है । गुप्त रूप से परपदार्थ का चौर्य वह है, जो अन्धेरे में या जङ्गल आदि में चोर आदि द्वारा किया जाता है ।

७. हे महामते ! अपनी वस्तुओं में भी ममता-त्याग के भाव से जो स्वार्थ-परायणता की वृत्ति को त्यागना है, उसे ही आत्मज्ञानी लोग अस्तेय कहते हैं ।

८. अस्तेय वृत्ति के पूर्ण अभ्यास हो जाने पर साधक के पास, सब रत्नों की उपस्थिति हो जाती है अर्थात् सम्पूर्ण दिशाओं से उत्तमोत्तम पदार्थ उसे प्राप्त होने लगते हैं ।

—

१. शौच (शुद्धिः=शोधन) दो प्रकार का कहा गया है – बाहर का और भीतर का । मिट्टी और जल से बाहर की शुद्धि होती है, जबकि भावों को शुद्ध रखना अन्दर की शुद्धि है ।

२. सभी प्रकार की शुद्धियों में धन सम्बन्धी शुद्धि सबसे मुख्य है । जो मनुष्य धन के विषय में शुद्ध है, वही शुद्ध है । मिट्टी और जल से शुद्ध हुआ, यथार्थ में शुद्ध नहीं है।

३. ज्ञान, तपस्या, अग्नि, भोजन, मिट्टी, मन, जल, लेपन, वायु, कर्म, सूर्य और समय ये पदार्थ देहधारियों की शुद्धि के साधन हैं ।

४. अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ (मनु.५.१०९)

५. दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत् ॥ (मनु.६.४६)

६. क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो, दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन, तपसा वेदवित्तमाः ॥ (मनु.५.१०७)

७. तैजसानां मणीनां च, सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव, शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥

८. निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुध्यति ।
अब्जमश्ममयं चैव, राजतं चानुपस्कृतम् ॥ (मनु.५.१११,११२)

९. ताम्रायःकांस्यरैत्यानां, त्रपुणः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं, क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ (मनु.५.११४)

१०. सम्मार्जनोपाञ्जनेन, सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवां च परिवासेन, भूमिः शुध्यति पञ्चभिः ॥ (मनु.५.१२४)

---

४. जल से शरीर शुद्ध होते हैं, मन सत्य से शुद्ध होता है । विद्या और तपस्या से जीवात्मा शुद्ध होता है और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है ।

५. दृष्टि से शुद्ध करके (भूमि आदि पर) पग रखे, वस्त्र से शुद्ध करके (छानकर) जल पीवे । सत्य से शुद्ध करके वाणी बोले और मन से शुद्ध करके आचरण करे ।

६. क्षमा से विद्वान् शुद्ध होते हैं और दान देने से दुष्ट कर्म करने वाले शुद्ध होते हैं । गुप्तरूप से पाप करने वाले जप करने से और वेदज्ञ जन तपस्या से शुद्ध होते हैं ।

७. चमकीले (स्टील आदि से बने) पात्र आदि, मणियों और सभी पाषाण निर्मित पदार्थों की शुद्धि आवश्यकतानुसार राख, जल तथा मिट्टी से होती है, ऐसा विद्वानों ने कहा है।

८. किन्तु स्वर्णनिर्मित पात्र, जलोत्पन्न मोती, सीपी, शङ्ख आदि से निर्मित पदार्थ, पाषाणनिर्मित वस्तुएँ और नक्काशी रहित चाँदी की बनी वस्तुएँ जल से ही शुद्ध हो जाती हैं, यदि उनमें कोई वस्तु लिप्त न हो तो ।

९. तांबा, लोहा, कांसा, पीतल, रांगा और जस्ता आदि के बने पात्र आदि की शुद्धि यथायोग्य खार, खट्टे द्रव और जल से करनी चाहिये ।

१०. बुहारने से, लीपने से, छिड़काव करने से, खुरचने से और गौओं के निवास से—इन पाँच क्रियाओं से भूमि शुद्ध होती है ।

११. आत्मा नदी भारत ! पुण्यतीर्था, सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा, पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥
(महाभा.उ.४०.२१)

१२. आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था, सत्योदका शीलतटा दयोर्मी ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥
( )

१३. सर्वाणि खलु तीर्थानि, गुणवन्ति मनीषिणः ।
यत्तु तीर्थं च शौचं च, तन्मे शृणु समाहितः ॥

१४. अगाधे विमले शुद्धे, सत्यतोये धृतिह्रदे ।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे, सत्यमालम्ब्य शाश्वतम् ॥

१५. तीर्थशौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः ॥

१६. निर्ममा निरहङ्कारा, निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
शुचयस्तीर्थभूतास्ते, ये भैक्ष्यमुपभुञ्जते ॥

---

११. हे भारतवंशी ! पुण्य रूपी घाट वाली, सत्य रूपी जल वाली, धैर्य रूपी तटों वाली और दया रूपी लहरों वाली एक नदी है, जिसे आत्मा कहते हैं । उस आत्मा रूपी नदी में स्नान किया हुआ पुण्य कर्मकारी मनुष्य शुद्ध होता है । नित्य लोभरहित आत्मा ही पुण्यवान् है ।

१२. आत्मा एक नदी है जिसके संयम और पुण्य घाट हैं, सत्य जिसमें जल है, सदाचार जिसके तट हैं और दया ही जिसमें लहरियां हैं, हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! उस आत्मा नदी में स्नान कर । जल से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होता ।

१३. मनस्वी मनुष्य के लिये सभी तीर्थ गुणवाले हैं । किन्तु जो तीर्थ (वास्तविक) शुद्धि करने वाला हैं उसे मुझसे सावधान होकर सुन ।

१४. गहरे, निर्मल, शुद्ध, सत्य रूपी जल वाले और धैर्य रूपी सरोवर वाले मानस (आन्तरिक) तीर्थ में सदा स्थिर रहने वाले सत्य का सहारा लेकर स्नान करना चाहिये ।

१५. तीर्थ में शुद्धि का अभिप्राय है – याचना न करना, सरलता, सत्य, कोमलता, अहिंसा, सब प्राणियों पर करुणा, मन पर नियन्त्रण और शान्ति ।

१६. (और तीर्थ हैं–) जो ममता - रहित, अहङ्कार - रहित, निन्दास्तुति आदि द्वन्द्वों से रहित, सङ्ग्रहवृत्ति से रहित, पवित्र और भिक्षा से भी गुजारा करने वाले मनुष्य हैं, वे ही तीर्थ रूप हैं ।

१७. नोदकक्लिन्नगात्रस्तु, स्नात इत्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

१८. मनसा च प्रदीप्तेन, ब्रह्मज्ञान-जलेन च ।
स्नाति यो मानसे तीर्थे, तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः ॥

(महाभा.अनु.२-५,९,१३)

—

इन्द्रियनिग्रहः

१. श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च, भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ (मनु.२.९८)

१. वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं, संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्शानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ (मनु.२.१००)

३. दृश्यन्ते हि महात्मानो, बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद्, राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ (महाभा.उ.३४.६९)

---

१७. जल से भीगे हुए शरीर वाला 'नहाया हुआ' नहीं कहलाता; अपितु 'नहाया हुआ' वह है, जो दम (मन के नियन्त्रण) रूपी जल में नहाया हुआ है । वही बाहर और भीतर से शुद्ध है ।

१८. मन से प्रदीप्त किये हुए ब्रह्मज्ञान (ईश्वरानुभूति) रूपी जल से जो मानस तीर्थ में स्नान करता है, तात्त्विक दृष्टि वाले के लिये वही (असली) स्नान है ।

—

१. जो मनुष्य सुनकर, स्पर्श करके, देखकर, खाकर, और सूंघकर न तो प्रसन्न होता है और न ही अप्रसन्न होता है, उसे ही जितेन्द्रिय जानना चाहिये ।

२. मनुष्य इन्द्रियों के समूह को वश में करके और मन को नियन्त्रित करके, योगाभ्यास के द्वारा शरीर को क्षीण न करते हुए अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ।

३. इन्द्रियों का स्वामी न बनने से – इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रखने से, महात्मा जन (भी) अपने ही कर्मों से और राजा लोग राजकीय भोगविलासों से बन्धनों में फँसते हुए देखे जाते हैं ।

४. इन्द्रियाणां विचरतां, विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्, विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ (मनु.२.८८)

५. इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु, न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां, मनसा सन्निवर्त्तयेत् ॥ (मनु.४.१६)

६. इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन, दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव, ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ (मनु.२.९३)

७. यो जितः पञ्चवर्गेण, सहजेनात्मकर्षिणा ।
आपदस्तस्य वर्धन्ते, शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ (महाभा.उ.३४.५५)

८. इन्द्रियजयो नन्दनानामुत्कृष्टतमम् ॥ (च.सू.३०.१५)

९. आत्मन्निच्छसि हन्त ! शाश्वतपुरीमार्गे विहर्त्तुं यदि,
भ्रातः ! संयमवर्मणा कुरु तदा, रक्षाविधिं सर्वतः ।
नो चेदिन्द्रियतस्करैस्तव हठात्तीक्ष्णाग्रभूरि स्फुरच्-
चिन्ताभल्लशतैर्विभिद्य मनसो, ग्राह्यो विवेको मणिः ॥ ( )

१०. आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥ ( )

---

४. विद्वान् मनुष्य, अपनी ओर आकर्षित करने वाले विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के नियन्त्रण में उसी प्रकार प्रयत्न करे जैसे सारथि घोड़ों के नियन्त्रण में यत्न करता है ।

५. इन्द्रियों के सभी विषयों में कामनापूर्वक आसक्त न होवे और इनकी अत्यन्त आसक्ति को मन से अच्छी प्रकार हटा देवे ।

६. मनुष्य इन्द्रियों की आसक्ति से निस्सन्देह दोष को प्राप्त होता है, और उन्हीं इन्द्रियों को नियन्त्रित करके सिद्धि को प्राप्त होता है ।

७. जो मनुष्य स्वभावतः अपनी और आत्मा को खींचने वाली श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसना और घ्राण इन पांच इन्द्रियों के द्वारा जीत लिया जाता है, उसकी आपत्तियाँ उसी प्रकार बढ़ती हैं, जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्रमा बढ़ता है ।

८. आनन्दित करने वाले उपायों में, इन्द्रियों पर विजय सर्वोत्तम उपाय है ।

९. हे भोले आत्मन् ! यदि तू उस सनातन आध्यात्मिक मार्ग में विचरना चाहता है, तो हे भाई! मन और इन्द्रियों के नियन्त्रण रूपी कवच से अपनी रक्षा का सब ओर से प्रबन्ध कर ले, अन्यथा इन्द्रिय रूपी तस्कर चिन्ता रूपी तीखे चिलचिलाते सैंकड़ों भालों से तुम्हारे मन को भेदकर, तुम्हारे मन की विवेक रूपी मणि को जबर्दस्ती हर ले जायेंगे ।

१०. इन्द्रियों को वश में न रखना आपत्तियों (में गिरने) का मार्ग है । इन्द्रियों को जीत लेना सम्पत्तियों (को पाने) का मार्ग है । (अब) आपको जो इष्ट हो उस मार्ग से जाइये ।

११. इन्द्रियाणि जयन्त्याशु, निराहारा मनीषिणः ।
वर्जयित्वा तु रसनं, तन्निरन्नस्य वर्द्धते ॥
१२. तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्, विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥ (भाग.११.८.२०,२१)

—

धीः (बुद्धिः)

१. ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (यजु.३६.३)
२. यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ (यजु.३२.१४)
३. प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति ।
य आङ्गिरसो नमसोपसद्यो ऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥
(ऋ.१०.४७.६)

---

११. भोजन को त्यागने वाले मनस्वी लोग, रसनेन्द्रिय को छोड़कर अन्य इन्द्रियों को शीघ्र ही जीत लेते हैं। रसनेन्द्रिय तो निराहार रहने पर और बलवती हो जाती है।
१२. अन्य इन्द्रियों पर विजय पा लेने वाला मनुष्य, जब तक रसनेन्द्रिय को न जीत ले, तब तक (सच्चे अर्थों में) जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। रस को जीत लेने पर तो मानो सब को जीत लिया।

—

१. वह सर्वरक्षक परमेश्वर नित्य सत्ता वाला तथा प्राणप्रिय, ज्ञानवान् तथा दुःखनाशक और सुखस्वरूप तथा सुखदाता है। उस सर्वव्यापक, सर्व-जगदुत्पादक-सर्वप्रेरक, दाता परमेश्वर के अतिश्रेष्ठ क्लेशनाशक-शुद्धस्वरूप का हम ध्यान करें। जो सर्वपूज्य परमेश्वर हमारी बुद्धियों को उत्तम कर्मों में प्रेरित करे।
२. जिस मेधा बुद्धि के लिये विद्वान्जन तथा पालन करन हारे माता-पिता आदि, ईश्वर की उपासना करते हैं, उसी मेधा (धारणावती बुद्धि) से, हे सुपथदर्शक ईश्वर ! मुझे आज ही मेधावी बना दो।
३. सात प्रकार के धीगुणों को जानने वाले, सत्य को धारण करने वाले और उत्तम धारणावती बुद्धि वाले वेदज्ञाता मनुष्य को, मननशीला बुद्धि अच्छी प्रकार से प्राप्त हो जाती है। ऐसे मतिमान् ज्ञानियों के द्वारा उपासनीय ईश्वर नमन के द्वारा साक्षात्करणीय है। वह हमें अद्भुत और बलवर्धक ऐश्वर्य प्रदान करे।

४. **शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा ।**
ऊहापोहाऽर्थविज्ञाने, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥ (कामन्द. ४.२२)

५. **मतिरेव बलाद् गरीयसी, तदभावे करिणामियं दशा ।**
इति घोषयतीव डिण्डिमः, करिणो हस्तिपकाहतः क्वणन् ॥
(हि.सु.८६)

६. **प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां, प्रज्ञा लाभः परो मतः ।**
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके, प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम् ॥ (महाभा.शा.१८०.२)

७. **ये याताः किमपि प्रधार्य हृदये, पूर्वं गता एव ते,**
ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने, कामं प्रकामोद्यमाः ।
एका केवलमर्थसाधनविधौ, सेनाशतेभ्योऽधिका,
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा, बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥ (मुद्रा.१.२५)

८. **यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ।**
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ॥

---

४. श्रवण करने की इच्छा, श्रवण करना, सुने हुए को ग्रहण कर लेना, ग्रहण किये हुए को चिरकाल तक धारण करना, तर्क-वितर्क प्रतिभा, अर्थ का विशेष ज्ञान और तत्त्वज्ञान; ये बुद्धि के सात गुण हैं ।

५. बुद्धि ही बल से बड़ी है, उस बुद्धि के अभाव में ही (बलशाली) हाथियों की यह दशा है । मानो इसी बात को हाथी पर रखा हुआ और महावत के द्वारा बजाया जाता हुआ नगाड़ा बजता हुआ घोषणा कर रहा है ।

६. बुद्धि, मनुष्यों की प्रतिष्ठा है, बुद्धि परम लाभ माना गया है । संसार में बुद्धि ही कल्याणकारिणी तथा मुक्तिप्रदा है । सज्जनों की दृष्टि में बुद्धि ही सुखदात्री है ।

७. 'स्वपक्ष से कुछ लोग शत्रुपक्ष में चले गये हैं' ऐसी सूचना मिलने पर महामति चाणक्य के उद्‌गार—जो लोग अपने हृदय में कुछ पाने की कामना धरके परपक्ष में चले गये हैं वे तो चले ही गये; जो हमारे पक्ष में अब हैं, वे भी परपक्ष में जाने को स्वेच्छानुसार भले ही प्रयत्न करें (भले ही चले जावें) । केवल एक वस्तु, जो कि प्रयोजन-सिद्धि में सैंकड़ों सेनाओं से बढ़कर है और जिसने नन्द-साम्राज्य को जड़ से उखाड़कर अपने पराक्रम की महिमा देख ली है—वह मेरी बुद्धि मुझसे कभी दूर न जावे।

८. जिसकी स्वयं बुद्धि नहीं है, उसका शास्त्र कोई उपकार नहीं कर सकता । (जैसे कि नेत्रों से विहीन व्यक्ति का दर्पण क्या उपकार कर सकेगा ?

९. बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम् ॥

१०. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि, फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः, पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ (महाभा.भी.२६.५०,५१)

११. प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः, स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

१२. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (महाभा.भी.२६.५५,५६)

१३. यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाऽशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

१४. यदा संहरते चाऽयं, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(महाभा.भी.२६.५७,५८)

१५. प्रसादे सर्वदुःखानां, हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

---

९. बुद्धि से युक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों (की आसक्ति) को त्याग देता है । इसलिये हे अर्जुन ! योग में लग जा । कर्मों में कुशलता ही योग है ।

१०. बुद्धि से युक्त ज्ञानी लोग कर्म से उत्पन्न फल (की आकांक्षा) को त्यागकर, जन्म के बन्धन से मुक्त हुए, दुःख-विहीन स्थिति को प्राप्त करते हैं ।

११. हे अर्जुन ! जब मनुष्य अपने मन में भरी हुई सब कामनाओं को त्याग देता है और अपने में ही अपने से सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थिर बुद्धि वाला कहलाता है ।

१२. दुःखों से जिसका मन खिन्न नहीं होता, सुखों में जिसकी लालसा नहीं रहती और जिसमें राग, भय और क्रोध नहीं है, वह मननशील व्यक्ति स्थिर बुद्धि वाला कहलाता है ।

१३. जिसका सभी स्थानों तथा अवस्थाओं में किसी प्रकार का लगाव नहीं रहता और जो शुभ को पाकर प्रसन्न नहीं होता तथा अशुभ को पाकर उससे द्वेष नहीं करता, उसी की बुद्धि स्थिर है ।

१४. जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है, वैसे ही जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों से भली भांति समेट लेता है, उसी की बुद्धि स्थित है ।

१५. प्रसन्नता की स्थिति में इस साधक मनुष्य के सभी दुःखों का क्षय हो जाता है । प्रसन्नचित्त वाले मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही प्रतिष्ठित हो जाती है ।

१६. नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य, न चाऽयुक्तस्य भावना ।
न चाऽभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

१७. इन्द्रियाणां हि चरतां, यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां, वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

१८. तस्माद्यस्य महाबाहो, निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(महाभा.भी.२६.६५-६८)

१९. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

२०. यया धर्ममधर्मं च, कार्यं चाऽकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति, बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

२१. अधर्मं धर्ममिति या, मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

(महाभा.भी.४२.३०-३२)

२२. तस्मात्पापं न कुर्वीत, पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति, क्रियमाणं पुनः पुनः ॥

---

१६. एकाग्रतारहित मनुष्य को बुद्धि और दृढ़ भावना की प्राप्ति नहीं होती । दृढ़भावना से रहित को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित को सुख कहाँ ?

१७. विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के साथ जब मन भी लग जाता है, तो वह मनुष्य की बुद्धि को उसी प्रकार हर ले जाता है, जैसे जल में वायु नौका को ।

१८. अतः हे महाबाहु अर्जुन ! जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ विषयों से सब प्रकार से हटाकर वश में कर ली गई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है ।

१९. हे अर्जुन ! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्ध और मोक्ष को जानती है, वह सात्त्विक बुद्धि कहलाती है ।

२०. हे अर्जुन ! मनुष्य जिससे वास्तविकता के विपरीत, धर्म को अधर्म और कर्त्तव्य को अकर्त्तव्य मान बैठता है, वह बुद्धि रजोगुणयुक्त होती है ।

२१. हे अर्जुन ! मनुष्य जिस, अज्ञानान्धकार से पूर्ण बुद्धि से अधर्म को धर्म मान लेता है और सभी बातों को उलटा ही समझता है, वह तमोगुणी बुद्धि होती है ।

२२. अतः मनुष्य प्रशंसित व्रतों को धारण करता हुआ पापकर्म कभी न करे । क्योंकि बार-बार किया जाता हुआ पाप बुद्धि को नष्ट कर देता है ।

२३. नष्टप्रज्ञः पापमेव, नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति, क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ (महाभा.उ.३५.६१,६२)

२४. प्रज्ञामेवा ऽऽगमयति, यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौं, शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ (महाभा.उ.३५,६६)

२५. उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते, हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः ।
अनूक्तमप्यूहति पण्डितो जनः, परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥
(हि.सु.४९)

२६. चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि, तेषां यद्यद् वर्धते यत्र यत्र ।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य, छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥
(महाभा.उ.३६.४८)

२७. हीयते हि मतिस्तात, हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ( )

२८. ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

---

२३. नष्ट-बुद्धि मनुष्य फिर सदा पापकर्म ही करता है । (इसके विपरीत) पुनः पुनः किया जाता हुआ पुण्यकर्म बुद्धि को बढ़ाता है ।

२४. जो मनुष्य बुद्धिशाली मनुष्यों से बुद्धि को ही प्राप्त करता है वही पण्डित है । बुद्धिमान् मनुष्य धर्म और अर्थ को पाकर सुख को बढ़ा सकता है ।

२५. प्रकट किया गया अभिप्राय पशु के द्वारा भी ग्रहण कर लिया जाता है, घोड़े और हाथी भी सङ्केतों के अनुसार चलते हैं । बुद्धिमान् मनुष्य बिना कहे भी अभिप्राय को भांप जाता है । दूसरे के संकेत मात्र से ही अभिप्राय को जान लेना, यही बुद्धि का लक्षण है ।

२६. पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ये छहों चञ्चल हैं । उनमें से जो-जो जहाँ-जहाँ प्रबल हो जाती है, वहाँ-वहाँ से बुद्धि वैसे ही रिसने लगती है, जैसे छेद वाले घड़े से जल ।

२७. हे तात! अपने से निम्न विचारकोटि के लोगों के साथ सङ्गति करने से अपनी बुद्धि भी निम्न विचारकोटि की हो जाती है । स्वसमान विचार वालों की सङ्गति से बुद्धि सम रहती है और उच्च विचार वालों की सङ्गति से बुद्धि उच्चता को प्राप्त होती है ।

२८-२९. विषयों का ध्यान करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है । आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और काम से क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से मूढ़ता

२९. क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
(महाभा.भी.२६.६२,६३)

३०. मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् ।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः, कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ॥

३१. आयुष्प्रदान्यामयनाशनानि, बलाग्निवर्णस्वरवर्धकानि ।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि, मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी ॥
(च.चि.१(३),३०,३१)

—

विद्या

१. ओ३म् विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (यजु.४०.१४)

२. सर्वद्रव्येषु विद्यैव, द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥

जन्मती है और मूढ़ता से स्मृति क्षीण हो जाती है । स्मृति के क्षय से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नाश से मनुष्य पूर्णतया नष्ट हो जाता है ।

३०-३१. मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी) बूटी के स्वरस का प्रयोग करना चाहिये; दूध के साथ मुलहठी के चूर्ण का सेवन करना चाहिये । जड़ और पुष्पादिसहित गिलोय का रस पीना चाहिये और शङ्खपुष्पी का कल्क (मोटा चूर्ण) फांकना चाहिये । ये चारों प्रयोग आयुवर्धक, रोगनाशक तथा बल, जठराग्नि, रंग और स्वर को बढ़ाने वाले हैं । ये मेध्य हैं (बुद्धि के लिये हितकारक हैं) और रसायन के समान गुणकारी हैं तथा शङ्खपुष्पी विशेष रूप से बुद्धिवर्धक है ।

—

१. जो मनुष्य विद्या (तात्त्विक ज्ञान) और अविद्या (कर्म और उपासना) इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को जीतकर विद्या से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

२. हरण के अयोग्य होने से, अमूल्य होने से और कभी क्षीण न होने से विद्या को ही सब पदार्थों में सर्वोत्तम पदार्थ कहा गया है ।

३. संयोजयति विद्यैव, नीचगापि नरं सरित् ।
समुद्रमिव दुर्धर्षं, नृपं भाग्यमतः परम् ॥

४. विद्या ददाति विनयं, विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ (हि.प्र.४-६)

५. रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ (हि.प्र.३९)

६. विद्या बृंहणानामुत्कृष्टतमम् ॥ (च.सू.३०.१५)

७. मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते,
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ।
कीर्त्तिं च दिक्षु विमलां वितनोति लक्ष्मीं,
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥ (भोज.५)

८. हर्त्तुर्याति च गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत् सर्वदा,
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं, प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ॥

---

३. अतिसामान्य मनुष्य में भी स्थित विद्या, उस मनुष्य को राजा से उसी प्रकार मिला देती है, जैसे नीचे की ओर प्रवाहित होने वाली भी नदी (नौकादि में स्थित) मनुष्य को प्रचण्ड समुद्र तक पहुँचा देती है । इसके पश्चात् मनुष्य के पूर्वोपार्जित कर्म भी उसके साथ होते हैं ।

४. विद्या मनुष्य में नम्रता का आधान करती है । मनुष्य नम्रता से सत्पात्रता (योग्यता) को प्राप्त होता है । पात्रता से धन को प्राप्त करता है और धन से धर्म को तथा धर्म से सुख को प्राप्त करता है ।

५. जो सुन्दर रूप और यौवन से सम्पन्न तथा बड़े कुल में भी जन्मे हुए हों, किन्तु यदि विद्या से रहित हों, तो ऐसे मनुष्य वैसे ही शोभित नहीं होते, जैसे गन्धरहित ढाक के फूल ।

६. मन, बुद्धि शरीरादि का विकास करने वाले पदार्थों में विद्या सर्वश्रेष्ठ है ।

७. विद्या, मनुष्य की माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान उसे हितकारक कर्म में नियुक्त करती है और पत्नी के समान उसके कष्टों को मिटाकर उसे सुप्रसन्न करती है । उसके यश को सब दिशाओं में फैलाती है और उसके ऐश्वर्य को बढ़ाती है । इस प्रकार विद्या कल्पलता के समान मनुष्य का कौन कौन सा कार्य सिद्ध नहीं करती !

८. जो चोर की दृष्टि में नहीं आता, जो सदा शान्ति प्रदान करता है, याचकों को दिन रात देने पर भी जो अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता है और जो युगयुगान्तरों में भी नाश को

कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं, विद्याख्यमन्तर्धनं,
येषां तान् प्रति मानमुज्झत नृपाः ! कस्तैः सह स्पर्धते ॥
(नीति.१६)

९. केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं, हारा न चन्द्रोज्ज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं, नालङ्कृता मूर्धजाः ।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं, या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं, वाग्भूषणं भूषणम् ॥ (नीति.१९)

१०. विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं, प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी, विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने, विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं, विद्याविहीनः पशुः ॥ (नीति.२०)

११. अनेकसंशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ (हि.प्र.१०)

१२. श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीताऽवरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं, स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ (मनु.२.२३८)

प्राप्त नहीं होता, ऐसा विद्या रूपी धन जिन विद्वानों के पास है, उनके प्रति हे राजा लोगो! अपने अभिमान को त्याग दो । ऐसे विद्याधनियों से कौन स्पर्धा कर सकता है?

९. मनुष्य को न बाजूबन्द सुशोभित कर सकते हैं न चन्द्रमा से चमकते हार; न उसे स्नान सुन्दर बना सकता है और न चन्दनादि का लेपन; न सुन्दर पुष्प और न सजे संवरे केश। एकमात्र वह विद्यामयी वाणी ही मनुष्य को सुशोभित कर सकती है, जो कि सुसंस्कारों से युक्त हो । वास्तव में अन्य भौतिक आभूषण अतितुच्छ हैं और विद्यारूपी आभूषण ही सच्चा आभूषण है ।

१०. विद्या मनुष्य का महत्त्ववर्धक असली सौन्दर्य है और छिपा हुआ सुरक्षित धन है; विद्या भोगों को देने वाली और कीर्त्ति तथा सुख को उत्पन्न करने वाली है; विद्या गुरुओं का भी गुरु है। विदेश में विद्या ही बन्धु है और विद्या परम देवता है। विद्या ही राजाओं के यहाँ आदर पाती है, धन नहीं, अतः विद्या से रहित मनुष्य पशु के समान है ।

११. अनेक सन्देहों को मिटाने वाला और परोक्ष वस्तु का भी ज्ञान कराने वाला शास्त्र (विद्या) सब मनुष्यों का असली नेत्र है । वह विद्या रूपी नेत्र जिसके पास नहीं है, वह चक्षु वाला होते हुए भी अन्धा है ।

१२. मनुष्य; श्रद्धा रखता हुआ अपने से कम गुण वाले व्यक्ति से भी विद्या ग्रहण कर ले। नीच व्यक्ति से भी श्रेष्ठ धर्म को और निन्दित कुल से भी उत्तम स्त्री को ग्रहण कर ले।

१३. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय, न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम् ॥
(निरुक्त.२.४)

१४. आलस्यं मदमोहौ च, चापलं गोष्ठिरेव ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं, तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः, सदा विद्यार्थिनां मताः ॥

१५. सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां, विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥
(महाभा.उ.४०.५,६)

१६. असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः ।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा, विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ (महाभा.उ.४०.४)

---

१३. विद्या ब्राह्मण (विद्वान्) के समीप आई और बोली–हे विद्वन्! मेरी रक्षा कर, मैं तेरा कोष हूँ। गुणों में दोष ढूँढ़ने वाले, कुटिल और आलसी मनुष्य को तू मेरा प्रवचन मत करना, जिससे कि मैं सामर्थ्यवती–तेज वाली बनी रहूँ ।

१४. आलस्य, नशा करना और मोह, चञ्चलता, गप्पें लगाना, जड़ता, अभिमान और त्याग का अभाव; ये सात दोष प्रायः विद्यार्थियों में आ जाया करते हैं । (जो विद्या चाहें उन्हें इनको त्याग देना चाहिये ।)

१५. सुख (आरामतलबी) चाहने वाले को विद्या कहाँ से प्राप्त हो सकती है और सच्चे अर्थों में विद्या के अभिलाषी को विद्याग्रहणकाल में सुख (आरामतलबी) नहीं मिल सकती । सुख से रहने का अभ्यासी विद्या की कामना त्याग दे और विद्या का अभिलाषी सुख के अभ्यास को त्याग दे ।

१६. किसी के गुणों में दोष देखना एकदम मरण के समान है और निन्दा तथा बकवास करना ऐश्वर्य का नाश करना है । सेवापूर्वक सीखने की लालसा न होना, उतावलापन और स्वयं की प्रशंसा करना ये तीन विद्या के शत्रु हैं ।

—

सत्यम्

१. **ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।**
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ (यजु.१.५)

२. **व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ।**
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ (यजु.१९.३०)

३. **अश्वमेधसहस्राणि, सत्यं च तुलया धृतम् ।**
अश्वमेधसहस्राद्धि, सत्यमेवाति रिच्यते ॥ (हि.स.१३१)

४. **स यः सत्यं वदति यथाग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चति ।**
एवं हैनं स उद्दीपयति । तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति,
श्वः श्वः श्रेयान् भवति ॥ (शतपथ.२.२.२.१९)

५. **नास्ति सत्यात् परो धर्मो, नानृतात्पातकं परम् ।**
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य, तस्मात्सत्यं न लोपयेत्। (महाभा.शा.१६२.२४)

६. **सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।**
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ (मनु.४.१३८)

---

१. हे ज्ञानप्रकाशमय ! कर्मों के रक्षक ईश्वर ! मैं उत्तम कर्म करूँगा (ऐसा सङ्कल्प करता हूँ), (ऐसी कृपा कीजिये कि मैं) उत्तम कर्माचरण में समर्थ हो सकूँ, मेरे कर्म को सिद्ध कीजिये । मैं अनृत (झूठ) से पृथक् होकर सत्य को प्राप्त होता हूँ ।

२. मनुष्य उत्तम कर्म करने से दीक्षा (नियम-यज्ञादि-प्रधान निष्ठा) को प्राप्त करता है, दीक्षा से दक्षिणा (दक्षता और सम्पन्नता को) प्राप्त करता है । दक्षिणा से श्रद्धा को प्राप्त होता है और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है ।

३. यदि तराजू में एक ओर एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान को रखें और दूसरी ओर सत्य को रखें, तो सहस्र अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य वाला पलड़ा ही भारी होगा अर्थात् सहस्रों अश्वमेधों की अपेक्षा सत्य की महिमा अधिक है ।

४. जो सत्य बोलता है वह वैसा ही आचरण करता है जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि को घी से सींचे । घृत से अग्नि को सींचने वाले के समान ही वह सत्य से अपने आत्मा को प्रकाशित करता है । उस सत्यवादी का अधिकाधिक तेज बढ़ता है और वह दिन प्रतिदिन श्रेष्ठ होता जाता है ।

५. सत्य से बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर पाप नहीं है । सत्य ही धर्म का आधार है । अतः सत्य का लोप न करे ।

६. मनुष्य सत्य बोले और प्रिय बोले । ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय हो और ऐसा प्रिय वचन न बोले जो असत्य हो । यही सदा से चला आ रहा धर्म है ।

७. सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा, यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥
(मुण्ड. ३.१.६)

८. यथार्थकथनं यच्च, सर्वलोकसुखप्रदम् ।
तत्सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययः ॥ ( )

९. चत्वार एकतो वेदाः, साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः ।
स्वधीता मनुजव्याघ्र, सत्यमेकं किलैकतः ॥ (महाभा.)

१०. सत्यस्य वचनं साधु, न सत्याद् विद्यते परम् ।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं, पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥

११. प्राणात्यये विवाहे वा, सर्वज्ञातिवधात्यये ।
नर्मण्यभिप्रवृत्ते वा, न च प्रोक्तं मृषा भवेत् ॥

१२. अधर्मं नात्र पश्यन्ति, धर्मतत्त्वार्थदर्शिनः ।
यः स्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि ॥

१३. श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं, तत् सत्यमविचारितम् ॥
न च तेभ्यो धनं देयं, शक्ये सति कथञ्चन ॥

---

७. सत्य ही जीतता है, झूठ नहीं, सत्य से ही देवयान मार्ग विस्तृत होता है– सदाचारी विद्वानों का मार्ग प्राप्त होता है । जिससे कि पूर्ण अभिलाषा वाले ऋषिलोग उस पद को प्राप्त करते हैं, जहाँ सत्य का परम भण्डार है ।

८. किसी का ठीक ठीक ऐसा कथन करना, कि जो सब जगत् के लिये सुखदायी हो, वही सत्य जानना चाहिये और उससे विपरीत को असत्य ।

९. हे नरश्रेष्ठ ! अङ्गों, उपाङ्गों तथा व्याख्यानों सहित अच्छी तरह से अभ्यास किये हुए चारों वेद एक ओर तो अकेला सत्य एक ओर (उनसे स्पर्धा में डटा रहेगा) ।

१०. सत्य बोलना उत्तम है, सत्य से बढ़कर कुछ नहीं है । किन्तु देखो, तात्त्विक दृष्टि से सत्य के पालन का विषय अति कठिनाई से ही जाना जा सकता है ।

११. प्राणों पर सङ्कट आने के समय, विवाह-सम्बन्ध में, सम्पूर्ण ज्ञाति के नाश की सम्भावना के समय और हंसी मजाक में यदि कुछ अन्यथा भी कहा जाय, तो वह झूठ कहलाने योग्य नहीं है ।

१२. यदि प्राणघाती चोर आदि से पाला पड़ जाय, तो उस समय यदि (धनादिदान की) शपथ के द्वारा भी उनसे मुक्त हुआ जाय, तो इसमें अधर्म नहीं है, ऐसा धर्म के तत्त्व को जानने वालों का मत है ।

१३. ऐसे स्थानों पर असत्य बोलना भी कल्याणकारंक है, वस्तुतः वह अविचारित सत्य ही है । उन चोरों को यथासम्भव कभी भी धन नहीं देना चाहिये ।

१४. पापेभ्यो हि धनं दत्तं, दातारमपि पीडयेत् ।
तस्माद् धर्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग्भवेत् ।।
(महाभा.क.६९.३१,६२-६५)

—

अक्रोध:

१. य: समुत्पतितं क्रोधं, निगृह्णाति हयं यथा ।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ।।

२. य: समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति ।
देवयानि! विजानीहि, तेन सर्वमिदं जितम् ।। (महाभा.आदि.७९,२-३)

३. य: सन्धारयते मन्युं, योऽतिवादांस्तितिक्षते ।
यश्च तप्तो न भवति, दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ।।

४. यो यजेदपरिश्रान्तो, मासि मासि शतं समा: ।
न क्रुध्येद् यश्च सर्वस्य, तयोरक्रोधनोऽधिक: ।।
(महाभा.क.७९,५-६)

---

१४. पापियों को दिया हुआ धन, दानदाता को भी पीड़ित कर सकता है । अत: धर्म-हेतु असत्य बोलकर भी मनुष्य असत्य के फल का भोक्ता नहीं होता है ।

—

१. सारथि जैसे घोड़े को वैसे ही जो उत्पन्न हुए क्रोध को वश में कर लेता है, वही असली 'यन्ता' (नियन्त्रणकर्त्ता) कहलाता है, घोड़ों की लगाम खींचने वाला नहीं।

२. हे देवयानि ! जो मनुष्य उत्पन्न हुए क्रोध को अक्रोध के द्वारा अपने में से निकाल फेंकता है, उसने सबको जीत लिया है ऐसा समझो ।

३. जो क्रोध को रोक लेता है, जो निन्दा और व्यङ्गभरे वचनों को सहन कर लेता है तथा जो सन्तप्त नहीं होता, वह ऐश्वर्य का सच्चा अधिकारी पात्र है ।

४. एक ओर जो सौ वर्ष तक प्रतिमास निरन्तर विशेष यज्ञ करे और दूसरी ओर जो किसी पर भी क्रोध न करे; इन दोनों में से क्रोध न करने वाला अधिक अच्छा है ।

५. धन्या खलु महात्मानो, ये बुद्ध्या कोपमुत्थितम् ।
निरुन्धन्ति यतात्मानो दीप्तमग्निमिवाम्भसा ॥

६. क्रुद्धः पापं न कुर्यात् कः, क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा, नरः साधूनधिक्षिपेत् ॥

७. वाच्याऽवाच्यं प्रकुपितो, न विजानाति कर्हिचित् ।
नाऽकार्यमस्ति क्रुद्धस्य, नाऽवाच्यं विद्यते क्वचित् ॥

८. यः समुत्पतितं क्रोधं, क्षमयैव निरस्यति ।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां, स वै पुरुष उच्यते ॥ (वाल्मी.सु.५५,३-६)

९. योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय, क्रोधस्यैव वशं गतः ।
स तथा तप्यते मूढो, ब्राह्मणो नकुलाद् यथा ॥ (हि.स.९४)

१०. बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः ।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः, सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः ॥
(किरा.२.३७)

---

५. वे महान् आत्मा वाले लोग धन्य हैं, जो उत्पन्न हुए क्रोध को बुद्धि से वैसे ही शान्त कर देते हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि को जल से । ऐसे सज्जन ही अपने आप को वश में रखने वाले होते हैं ।

६. कौन ऐसा मनुष्य होगा जो क्रुद्ध होने पर पाप न कर बैठे ? क्रोधी अपने गुरुजनों को भी मार सकता है और अपनी कठोर वाणी से सज्जनों पर भी आरोप आक्षेप लगा सकता है ।

७. क्रोधी मनुष्य, क्या कहना चाहिये और क्या नहीं कहना चाहिये इस बात का विवेक नहीं कर सकता । क्रोधी मनुष्य के लिये कहीं भी, ऐसा कोई कुकर्म नहीं, जिसे वह न कर बैठे और ऐसा कोई कुवचन नहीं, जिसे वह न कह बैठे ।

८. जो मनुष्य उत्पन्न हुए क्रोध को क्षमा के द्वारा, सांप जैसे कैंचुली को वैसे ही अपने से दूर हटा देता है वही असली 'मनुष्य' कहलाता है ।

९. जो वास्तविक अभिप्राय को न समझकर एकमात्र क्रोध के वशीभूत हो जाता है, वह अन्त में उसी प्रकार पश्चात्ताप करता है, जैसे उपकारी नेवले को मारने के बाद एक ब्राह्मण ने किया था ।

१०. बलशाली मनुष्य भी यदि क्रोध से उत्पन्न हुए आन्तरिक अन्धकार की उत्पत्ति को नहीं रोकता है, तो वह वैसे ही अपने सम्पूर्ण बल और ऐश्वर्यों को नष्ट कर देता है, जैसे कृष्णपक्ष चन्द्रमा की कलाओं को ।

११. अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि,
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि ।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति,
धीमानधीतमपि न प्रतिसन्दधाति ॥ (प्रबो.२.२९)

१२. हिंस्यात् क्रोधादवध्यांस्तु, वध्यान् सम्पूजयीत च ।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद् यमसादनम् ॥ (महाभा.वन.२९.६)

१३. दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च, शीघ्रत्वमिति तेजसः ।
गुणाः क्रोधाभिभूतेन, न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥
(महाभा.वन.२९.२०)

—

अहिंसा

१. अहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतममेकम् ॥ (च.सू.३०.१५)

२. योऽहिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव, न क्वचित् सुखमेधते ॥

३. यो बन्धनवधक्लेशान्, प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः, सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ (मनु. ५.४५,४६)

---

११. मैं (क्रोध), जगत् को अन्धा और बहिरा बना देता हूँ, चेतनावान् धीरपुरुष को भी जड़ सा बना देता हूँ । (मेरे प्रभाव से) मनुष्य न तो अपने कर्त्तव्य को देख पाता है और न ही हित की बात सुनता है तथा बुद्धिमान् मनुष्य अपने पढ़े हुए को भी स्मरण नहीं कर पाता है ।

१२. क्रोध से मनुष्य अवध्यों का वध कर सकता है, वध्यों की पूजा कर सकता है और अपने आपको मृत्यु-मुख में ढकेल सकता है ।

१३. दक्षता, अत्याचार को न सहना, पराक्रम और शीघ्रता ये जो तेज के गुण हैं, इनको क्रोध से भरा हुआ मनुष्य ठीक ठीक नहीं प्राप्त कर सकता ।

—

१. प्राणियों के प्राणों की वृद्धि करने वाले उपायों में एक अहिंसा ही सर्वोत्तम उपाय है ।

२. जो अपने सुख की कामना से निरपराध प्राणियों की हिंसा करता है, वह जीवित रहता हुआ भी और मरने के पश्चात् भी कहीं सुख नहीं पाता है ।

३. जो मनुष्य किसी भी प्राणी के बांधने और उसकी हत्या करने आदि कष्टकारक कार्यों को करने की कामना नहीं करता, वह सबका हित चाहने वाला मनुष्य अत्यन्त सुख को प्राप्त करता है ।

४. सर्वकर्मस्वहिंसा हि, धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद् विहिंसन्ति, बहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥

५. तस्मात् प्रमाणतः कार्यो, धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो, धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥ (महाभा.शा.२६५.५,६)

६. मर्त्तव्यमिति यद् दुःखं, प्राणिन उपजायते ।
शक्यते नानुमानेन, परेण परिवर्णितुम् ॥ (हि.मि.६७)

७. देहप्रवृत्तिर्या काचिद्, वर्त्तते परपीडया ।
स्त्रीभोग-स्तेय-हिंसाद्या, तस्या वेगान् विधारयेत् ॥ (च.सू.७.२९)

८. नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां, मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥

९. समुत्पत्तिं च मांसस्य, वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत, सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ (मनु.५.४८,४९)

१०. अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः ॥ (मनु.५.५१)

---

४. धर्मात्मा मनु महर्षि ने सब कर्मों में अहिंसा (का ध्यान रखने) को कहा है । जो मनुष्य बाहर यज्ञवेदी आदि पर पशुओं को मारते हैं, वे अपनी क्षुद्र कामना के कारण ऐसा करते हैं (धर्मशास्त्र में ऐसा विधान नहीं है) ।

५. अतः विवेकशील ज्ञानी मनुष्य को प्रमाणानुसार सूक्ष्म धर्म का आचरण करना चाहिये । सब प्राणियों के प्रति अहिंसा रूपी धर्म, सब धर्मों से बड़ा है ।

६. 'अब मुझे मरना पड़ेगा' इस प्रकार विचारने पर जो मरण-दुःख प्राणी को होता है। उसका वर्णन दूसरे के द्वारा अनुमान से नहीं किया जा सकता ।

७. परस्त्रीगमन, चोरी और हिंसा आदि जो भी शारीरिक कार्य दूसरों को कष्ट पहुँचा के किये जाते हैं, उन सबके वेगों को मनुष्य अवश्य रोके ।

८. बिना प्राणियों की हिंसा किये कहीं भी मांस की प्राप्ति नहीं होती और प्राणियों की हिंसा करना सुखदायी नहीं है, अतः मनुष्य मांससेवन सर्वथा त्याग देवे ।

९. मांस की प्राप्ति का और प्राणियों के बन्धन तथा हत्या आदि का विचार करके, मनुष्य को सब प्रकार के मांस के सेवन से दूर हो जाना चाहिये ।

१०. किसी प्राणी को मारने की अनुमति देने वाला अथवा अनुमोदन करने वाला, प्राणी के अङ्गों को काटने वाला, उसको प्राणों से वियुक्त करने वाला, मांस को (या मारे गये प्राणी को) खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला ये आठ प्रकार के घातक (हत्यारे) कहे जाते हैं ।

११. योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम् ।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते ॥ (हि.मि.६६)

१२. न भूप्रदानं न सुवर्णदानं, न गोप्रदानं न तथाऽन्नदानम् ।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं, सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ॥ (हि.स.५७)

१३. सर्वहिंसानिवृत्ता ये, नराः सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ (हि.मि.६४)

१४. यो यजेताश्वमेधेन, मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेन् मधु मांसं च, सममेतद् युधिष्ठिर ॥

१५. न भक्षयति यो मांसं, न च हन्यान्न घातयेत् ।
तन्मित्रं सर्वभूतानां, मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

१६. सदा यजति सत्रेण, सदा दानं प्रयच्छति ।
सदा तपस्वी भवति, मधुमांस-विवर्जनात् ॥
(महाभा.अनु.११५.८,१०,१५)

१७. इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः ।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः, स वै नरकभाङ् नरः ॥
(महाभा.अनु.११५.४३)

---

११. जब, जो जिसके मांस को खाता है, उन दोनों के अन्तर को देखिये । एक की तो क्षणिक तृप्ति होती है और दूसरा प्राणों से हाथ धो बैठता है ।

१२. भूमि का दान, स्वर्णदान, गोदान और अन्नदान ये वैसे बड़े दान नहीं है, जैसा कि विद्वान् सब दानों में अभयदान (प्राणदान) को महादान कहते हैं ।

१३. जो सब प्रकार की हिंसा से दूर हैं, जो सबको सहन करने वाले हैं और सबको शरण देने वाले हैं, वे ही मनुष्य स्वर्ग (परम सुख) को प्राप्त करने वाले होते हैं ।

१४. जो मनुष्य व्रती होकर प्रत्येक मास में अश्वमेध यज्ञ से यजन करे और जो शराब तथा मांस के सेवन को त्याग देवे, हे युधिष्ठिर ये दोनों बराबर हैं ।

१५. जो मांस नहीं खाता, जो हत्या नहीं करता और जो अन्य से भी हत्या नहीं करवाता, वह सब प्राणियों का मित्र है, ऐसा स्वयम्भू के पुत्र मनु ने कहा है ।

१६. शराब और मांस के त्याग देने से (वह त्यागने वाला मनुष्य) मानो सदा ही निरन्तर यज्ञ का अनुष्ठान करता है, सदा दान देता है और सदा तपस्वी बना रहता है ।

१७. जो मांस का लोभी मनुष्य हवन, यज्ञ और शास्त्र आदि के बनावटी मार्गों (बहानों) से प्राणियों का वध करता है, वह अज्ञानी और नीच है । वह मनुष्य नरक को प्राप्त होता है ।

४. सर्वकर्मस्वहिंसा हि, धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद् विहिंसन्ति, बहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥

५. तस्मात् प्रमाणतः कार्यो, धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो, धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥ (महाभा.शा.२६५.५,६)

६. मर्त्तव्यमिति यद् दुःखं, प्राणिन उपजायते ।
शक्यते नानुमानेन, परेण परिवर्णितुम् ॥ (हि.मि.६७)

७. देहप्रवृत्तिर्या काचिद्, वर्त्तते परपीडया ।
स्त्रीभोग-स्तेय-हिंसाद्या, तस्या वेगान् विधारयेत् ॥ (च.सू.७.२९)

८. नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां, मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥

९. समुत्पत्तिं च मांसस्य, वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत, सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ (मनु.५.४८,४९)

१०. अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः ॥ (मनु.५.५१)

---

४. धर्मात्मा मनु महर्षि ने सब कर्मों में अहिंसा (का ध्यान रखने) को कहा है । जो मनुष्य बाहर यज्ञवेदी आदि पर पशुओं को मारते हैं, वे अपनी क्षुद्र कामना के कारण ऐसा करते हैं (धर्मशास्त्र में ऐसा विधान नहीं है) ।

५. अतः विवेकशील ज्ञानी मनुष्य को प्रमाणानुसार सूक्ष्म धर्म का आचरण करना चाहिये । सब प्राणियों के प्रति अहिंसा रूपी धर्म, सब धर्मों से बड़ा है ।

६. 'अब मुझे मरना पड़ेगा' इस प्रकार विचारने पर जो मरण-दुःख प्राणी को होता है। उसका वर्णन दूसरे के द्वारा अनुमान से नहीं किया जा सकता ।

७. परस्त्रीगमन, चोरी और हिंसा आदि जो भी शारीरिक कार्य दूसरों को कष्ट पहुँचा के किये जाते हैं, उन सबके वेगों को मनुष्य अवश्य रोके ।

८. बिना प्राणियों की हिंसा किये कहीं भी मांस की प्राप्ति नहीं होती और प्राणियों की हिंसा करना सुखदायी नहीं है, अतः मनुष्य मांससेवन सर्वथा त्याग देवे ।

९. मांस की प्राप्ति का और प्राणियों के बन्धन तथा हत्या आदि का विचार करके, मनुष्य को सब प्रकार के मांस के सेवन से दूर हो जाना चाहिये ।

१०. किसी प्राणी को मारने की अनुमति देने वाला अथवा अनुमोदन करने वाला, प्राणी के अङ्गों को काटने वाला, उसको प्राणों से वियुक्त करने वाला, मांस को (या मारे गये प्राणी को) खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला ये आठ प्रकार के घातक (हत्यारे) कहे जाते हैं ।

११. योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम् ।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते ॥ (हि.मि.६६)

१२. न भूप्रदानं न सुवर्णदानं, न गोप्रदानं न तथाऽन्नदानम् ।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं, सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ॥ (हि.स.५७)

१३. सर्वहिंसानिवृत्ता ये, नराः सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ (हि.मि.६४)

१४. यो यजेताश्वमेधेन, मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेन् मधु मांसं च, सममेतद् युधिष्ठिर ॥

१५. न भक्षयति यो मांसं, न च हन्यान्न घातयेत् ।
तन्मित्रं सर्वभूतानां, मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

१६. सदा यजति सत्रेण, सदा दानं प्रयच्छति ।
सदा तपस्वी भवति, मधुमांस-विवर्जनात् ॥
(महाभा.अनु.११५.८,१०,१५)

१७. इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः ।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः, स वै नरकभाङ् नरः ॥
(महाभा.अनु.११५.४३)

---

११. जब, जो जिसके मांस को खाता है, उन दोनों के अन्तर को देखिये । एक की तो क्षणिक तृप्ति होती है और दूसरा प्राणों से हाथ धो बैठता है ।

१२. भूमि का दान, स्वर्णदान, गोदान और अन्नदान ये वैसे बड़े दान नहीं है, जैसा कि विद्वान् सब दानों में अभयदान (प्राणदान) को महादान कहते हैं ।

१३. जो सब प्रकार की हिंसा से दूर हैं, जो सबको सहन करने वाले हैं और सबको शरण देने वाले हैं, वे ही मनुष्य स्वर्ग (परम सुख) को प्राप्त करने वाले होते हैं ।

१४. जो मनुष्य व्रती होकर प्रत्येक मास में अश्वमेध यज्ञ से यजन करे और जो शराब तथा मांस के सेवन को त्याग देवे, हे युधिष्ठिर ये दोनों बराबर हैं ।

१५. जो मांस नहीं खाता, जो हत्या नहीं करता और जो अन्य से भी हत्या नहीं करवाता, वह सब प्राणियों का मित्र है, ऐसा स्वयम्भू के पुत्र मनु ने कहा है ।

१६. शराब और मांस के त्याग देने से (वह त्यागने वाला मनुष्य) मानो सदा ही निरन्तर यज्ञ का अनुष्ठान करता है, सदा दान देता है और सदा तपस्वी बना रहता है ।

१७. जो मांस का लोभी मनुष्य हवन, यज्ञ और शास्त्र आदि के बनावटी मार्गों (बहानों) से प्राणियों का वध करता है, वह अज्ञानी और नीच है । वह मनुष्य नरक को प्राप्त होता है ।

१८. स्वमांसं परमांसेन, यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात्, स नृशंसतरो नरः ॥ (महाभा.अनु.११६.७)

१९. तदेतदुत्तमं धर्ममहिंसाधर्मलक्षणम् ।
ये चरन्ति महात्मानो, नाकपृष्ठे वसन्ति ते ॥ (महाभा.अनु.११५.६९)

२०. अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ।
उत्तरे च यमनियमादयः तन्मूलाः तत्सिद्धिपरतयैव
तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते ।
तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते ॥ (योग.व्या.२.३०)

---

१८. जो अपने (शरीर के) मांस को पराये मांस से बढ़ाना चाहता है, उससे अधिक नीच अन्य कोई मनुष्य नहीं है । वह मनुष्य महाक्रूर है ।

१९. अहिंसा धर्म ही जिसका लक्षण है, ऐसे इस उत्तम धर्म का जो आचरण करते हैं वे महात्मा हैं, वे मोक्ष-धाम में निवास करते हैं ।

२०. सब प्रकार से सदा किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा की भावना न रखना 'अहिंसा' है। सत्य आदि यम और शौच आदि नियम अहिंसामूलक है अर्थात् अहिंसा पर आधारित हैं । अहिंसा की साधना करना ही उनका मुख्य लक्ष्य है । अहिंसा की सिद्धि के लिये ही उनको सिद्ध किया जाता है । अहिंसा के स्वरूप को शुद्ध करने के लिये—अहिंसा को निखारने के लिये ही यमनियम आदि का ग्रहण (साधना के लिये) किया जाता है ।

—

दया

१. दृष्ट्वाऽन्धबधिरव्यङ्गाननाथान् रोगिणस्तथा ।
दया न जायते येषां, ते शोच्या मूढचेतनाः ॥

२. दुःखितानीह भूतानि, दृष्ट्वा स्याद्यो न दुःखितः ।
केवलात्महितेच्छोस्तु, को नृशंसतरस्ततः ॥

३. प्राणसंशयमापन्नं, यो न रक्षति शक्तिमान् ।
सर्वधर्म-बहिर्भूतः स पापां गतिमाप्नुयात् ॥

४. अपहृत्यार्त्तिमार्त्तानां, सुखं यदुपजायते ।
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा, कलां नार्हति षोडशीम् ॥
(महाभा.अनु.५०.१८,१३,१९,२०)

५. दया धर्मस्य मूलं हि, द्रोहः पापस्य कारणम् ।
तावद्दया न त्यक्तव्या, यावत्प्राणाः शरीरके ॥

६. प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु, दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ (हि.मि.१२)

---

१. अन्धे, बहिरे, विकलाङ्ग, अनाथ और रोगियों को देखकर जिनके हृदय में दया नहीं उपजती है, उन निर्बुद्धि क्रूर मनुष्यों पर महाशोक है ।

२. इस संसार में दु खी प्राणियों को देखकर जो स्वयं दुःखी नहीं होता, उस केवल अपना हित चाहने वाले से अधिक क्रूर और कौन होगा ?

३. सङ्कट में पड़े हुए प्राणों वाले प्राणी की, जो व्यक्ति शक्तिमान् होते हुए भी रक्षा नहीं करता, वह सब प्रकार के धर्मों का उल्लङ्घन करने वाला है । ऐसा वह व्यक्ति पाप के फल को प्राप्त करता है ।

४. दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करके जो सुख उत्पन्न होता है । उस सुख के सोलहवें अंश की भी तुलना स्वर्ग या मुक्ति का सुख नहीं कर सकता ।

५. दया धर्म का मूल है और दूसरों को पीड़ा पहुंचाने की भावना पाप का मूल है । जब तक शरीर में प्राण रहें, तब तक मनुष्य दया को न त्यागे ।

६. जैसे स्वयं अपने को प्राण प्रिय होते हैं, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी वे प्रिय होते हैं । अतः सज्जन लोग अपने दृष्टान्त से ही सब प्राणियों पर दया करते हैं ।

—

आचारः (सदाचारः=शीलम्)

१. आचारः परमो धर्मः, श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो, नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥ (मनु.१.१०८)

२. एवमाचारतो दृष्ट्वा, धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ (मनु.१.११०)

३. आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ (मनु.४.१५६)

४. आचाराद्विच्युतो विप्रो, न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः, सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥ (मनु.१.१०९)

५. श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्, निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत, सदाचारमतन्द्रितः ॥ (मनु.४.१५५)

६. सर्वलक्षणहीनोऽपि, यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च, शतं वर्षाणि जीवति ॥ (मनु.४.१५८)

७. दुराचारो हि पुरुषो, लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं, व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ (मनु.४.१५७)

---

१. वेदों में प्रोक्त और स्मृति-ग्रन्थों में निर्दिष्ट आचार (आचरण) ही परम धर्म है । अतः प्रत्येक द्विज सदा इस आचार में लीन रहता हुआ नित्य आत्मकल्याण का साधन करे।

२. इस प्रकार मुनियों ने सदाचार की दृष्टि से धर्म की गति का अवलोकन करके, सम्पूर्ण तपस्या के परम आधार रूप इस सदाचर को ही अपनाया ।

३. सदाचार से मनुष्य दीर्घ आयु को पाता है, सदाचार से मनचाही प्रजा को प्राप्त करता है और सदाचार से अक्षय धन को पाता है । सदाचार सब प्रकार की अयोग्यता तथा कुरूपता आदि को निष्प्रभावी कर देता है ।

४. सदाचार से हीन विद्वान् वेदाध्ययन के फल को नहीं पाता है, किन्तु जो सदाचार से सम्पन्न होता है, वह सम्पूर्ण फल को प्राप्त कर लेता है ।

५. मनुष्य वेदों और स्मृतिग्रन्थों में निर्दिष्ट तथा अपने अपने कर्मों में निर्धारित और धर्म के आधार रूप सदाचार का निरालस्य होकर सेवन करे ।

६. सब प्रकार के उत्तम चिह्नों और योग्यताओं से रहित होता हुआ भी जो मनुष्य सदाचारी श्रद्धालु और गुणों में दोषारोपण न करने वाला होता है, वह सौ वर्ष तक जीता है ।

७. दुराचारी मनुष्य संसार में निन्दा को प्राप्त करता है, निरन्तर दुःख भोगता है, रुग्ण रहता है और अल्प आयु वाला होता है ।

८. ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता, धैर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो, वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ (नीति.८३)

९. वरं तुङ्गाच्छृङ्गाद्, गुरुशिखरिणः क्वापि विषमे,
पतित्वाऽयं कायः, कठिनदृषदन्ते विदलितः ।
वरं न्यस्तो हस्तः, फणिपतिमुखे तीव्रदशने,
वरं वह्नौ पातस्तदपि न कृतः शीलविलयः ॥ (नीति.१२४)

१०. न कुलं वृत्तहीनस्य, प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्तेष्वपि हि जातानां, वृत्तमेव विशिष्यते ॥ (महाभा.उ.३४.४१)

११. जिता सभा वस्त्रवता, मिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता, सर्वं शीलवता जितम् ॥

१२. शीलं प्रधानं पुरुषे, तद् यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो, न धनेन न बन्धुभिः ॥ (महाभा.उ.३४.४७,४८)

---

८. ऐश्वर्य का आभूषण सौजन्य है, धैर्य का आभूषण वाणी पर सयम, ज्ञान का आभूषण शान्ति, शास्त्रज्ञान का आभूषण नम्रता, धन का आभूषण सत्पात्र में दान, तपस्या का आभूषण क्रोध का अभाव, समर्थ का आभूषण क्षमा और धर्म का आभूषण निश्छलता है । किन्तु यह सदाचार तो सबका ही सब दृष्टि से परम आभूषण है ।

९. किसी बड़े पर्वत के ऊँचे शिखर से किसी कठोर चट्टान पर गिरकर इस शरीर का टुकड़े-टुकड़े हो जाना अच्छा है, हमारे हाथ का किसी भयङ्कर सर्प के विषैले दांतों वाले मुख पर रखा जाना भी अच्छा है और अग्नि में गिर जाना भी अच्छा है, किन्तु सदाचार का लोप करना अच्छा नहीं है – सह्य नहीं है ।

१०. सदाचार से हीन व्यक्ति का (ऊँचा) कुल भी प्रामाणिक नहीं है, ऐसा मेरा विचार है। नीच कुलों में उत्पन्न व्यक्तियों की भी सदाचार के कारण विशेषता होती है।

११. उत्तम वस्त्र धारण किये हुए व्यक्ति के द्वारा सभा जीत ली जाती है, गौओं वाले व्यक्ति के द्वारा मीठे पदार्थ की इच्छा जीत ली जाती है और वाहन वाले मनुष्य के द्वारा मार्ग पर विजय पा ली जाती है, किन्तु सदाचारी के द्वारा तो सब कुछ जीत लिया जाता है ।

१२. सदाचार ही मनुष्य में मुख्य गुण है । जिसका यह सदाचार नष्ट हो जाता है, उसके धनवान् होने से, बन्धु सम्पन्न होने से अथवा लम्बे जीवन से भी क्या लाभ है ?

१३. कुलानि समुपेतानि, गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसङ्ख्यां न गच्छन्ति, यानि हीनानि वृत्ततः ॥

१४. वृत्ततस्त्वविहीनानि, कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसङ्ख्यां च गच्छन्ति, कर्षन्ति च महद् यशः ॥

१५. वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्, वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ (महाभा.उ.३६.२८-३०)

१६. धर्मः सत्यं तथा वृत्तं, बलं लक्ष्मीस्तथैव च ।
शीलमूला महाप्राज्ञ, सदा नास्त्यत्र संशयः ॥ ( )

१७. यद्यप्यशीला नृपते, प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित् ।
न भुञ्जते चिरं, तात, समूलाश्च न सन्ति ते ॥
(महाभा.शा.१२४.६२,६९)

---

१३. वे कुल (परिवार) जो गौओं, अनेक मनुष्यों और धनों से सम्पन्न हों, किन्तु सदाचार से हीन हों, वे उत्तम कुलों की गणना में नहीं आते हैं ।

१४. जो परिवार सदाचार से हीन नहीं हैं, वे कम धनवाले होते हुए भी उत्तम कुलों की गणना में आते हैं और महान् यश को अर्जित करते हैं ।

१५. सदाचार की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे, धन तो आता और जाता है । जो धन से हीन है वह वास्तव में हीन नहीं है, किन्तु जो सदाचार से हीन है, उसे तो सर्वथा ही नष्ट भ्रष्ट समझना चाहिये ।

१६. हे महाबुद्धिमान् ! धर्म, सत्य, सद्व्यवहार, बल और लक्ष्मी ये सब शील (सदाचार) पर आधारित हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

१७. हे राजन् ! यद्यपि कहीं कहीं सदाचार-विहीन लोग भी सम्पत्ति प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु वे देर तक उसका उचित उपभोग नहीं कर पाते और उनके जीवन का आधार भी स्थायी नहीं रहता ।

—

दीर्घायुष्यम्

१. ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं
प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं
भूयश्च शरदः शतात् ॥ (यजु.३६.२४)

२. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥
(यजु.२५.२१)

३. त्र्यायुषं जमदग्नेः, कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं, तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ (यजु. ३.३२)

४. मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाऽविमानना ॥ (महाभा.उ.३९.५२)

५. रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते ।
शस्यते देहवृत्तिश्च, भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः ॥

---

१. वह परब्रह्म सर्वद्रष्टा, विद्वानों के द्वारा धारण किया हुआ, प्राचीनतम, शुद्ध-स्वरूप और उत्तम गुणों से युक्त है । (हम उसकी कृपा से) सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवित रहें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक स्वाधीन-सम्पन्न रहें और सौ वर्ष से भी अधिक काल तक देखें, जीवें, सुनें, बोलें और सम्पन्न रहें ।

२. हे देवो ! हम कानों से भला सुनें । हे पूजनीयो ! हम आँखों से भला ही देखें । हम चिरस्थायी अङ्गों से युक्त शरीरों से सम्पन्न होकर उस श्रेष्ठ आयु को प्राप्त करें, जो कि देवों के द्वारा प्राप्त की जाती है ।

३. सुप्रदीप्त ज्ञानाग्नि से सम्पन्न विद्वान् (जमदग्नि) की जो तीन गुनी आयु होती है, विचक्षण दर्शन शक्ति से सम्पन्न विवेकी=कश्यप की जो तीन गुणी आयु होती है और दिव्यगुणी विद्वानों में जो तिगुनी आयु होती है, वही तिगुनी आयु हमारी भी हो ।

४. सब प्राणियों के प्रति कोमलता, गुणों में दोषारोपण न करना, सहनशीलता, धैर्य और मित्रों का अपमान न करना; इन पांच बातों को विद्वानों ने आयुवर्धक कहा है।

५. स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य के लिये रसायनों का विधिवत् उपयोग करना और पूर्वोक्त औषधों से शरीर को युक्त करते रहना उत्तम माना गया है ।

६. सत्यं भूते दया दानं, बलयो देवतार्चनम् ।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च, प्रशमो गुप्तिरात्मनः ॥

७. हितं जनपदानां च, शिवानामुपसेवनम् ।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य, तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥

८. संकथा धर्मशास्त्राणां, महर्षीणां जितात्मनाम् ।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं, सहास्या वृद्धसम्मतैः ॥

९. इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम् ॥ (च.वि. ३.१८-२२)

१०. अतिमानोऽतिवादश्च, तथाऽत्यागो नराधिप ।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च, मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥

११. एत एवासयस्तीक्ष्णाः, कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ।
एतानि मानवान् घ्नन्ति, न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ (महाभा.उ.३७.१०,११)

१२. न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ (यजु.३४:५१)

६-९. सत्य, प्राणियों पर दया, दान, भोजनांशदान, देव-पूजा (यज्ञादि), सत्पुरुषों के अनुसार आचरण, मन की शान्ति, अपने को प्रसिद्ध करने से बचना, जनता का हित करना, कल्याणकारी वस्तुओं आदि का सेवन, ब्रह्मचर्य का सेवन, ब्रह्मचारियों का सङ्ग, धर्मशास्त्रों की तथा जितेन्द्रिय महर्षियों की कथा (चरित्र) का श्रवण-कथन और वृद्धजननिर्दिष्ट धार्मिक सत्त्वगुणी मनुष्यों के पास बैठना; ये सब आयु की रक्षा करने के औषध–उपाय हैं ।

१०-११. हे राजन् ! अति अभिमान, अधिक वादविवाद, दान न करना, क्रोध, अपना ही हित चाहना और मित्र से द्रोह करना ये छः तीखी तलवारें हैं, जो कि मनुष्यों की आयु को काटती हैं । वास्तव में ये ही मनुष्यों का घात करने वाली हैं, मृत्यु नहीं । हे महाराज ! इस बात को समझिये, जिससे आपका कल्याण हो ।

१२. जो यह देवों का श्रेष्ठ ओज (पराक्रम) है उसे न तो राक्षस और न पिशाच ही परास्त कर पाते हैं । जो मनुष्य सावधानी से संरक्षित शुक्र को धारण करता है और विधि-पूर्वक निर्मित स्वर्ण-रसायन का सेवन करता है, वह देवताओं और मनुष्यों में सर्वोत्तम दीर्घ आयु को प्राप्त होता है ।

अभयम्

१. ओ३म् यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ (यजु.३६.२२)

२. अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥

३. अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः, सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
(अथर्व.१९.१५.५,६)

४. यदन्ति यच्च दूरके भयं विन्दति मामिह ।
पवमान वि तज्जहि ॥ (ऋ. ९.६७.२१)

५. यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥

६. यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ (अथर्व. २.१५.१,३)

---

१. हे भगवन् ! जिस जिस स्थान में आप अपने जगत्पालनादि कर्मों में सम्यक्तया प्रवृत्त हो, वहाँ वहाँ हमें निर्भयता प्रदान कीजिये । हम प्रजाओं के लिये शान्ति स्थापित कीजिये और हमारे पशुओं के लिये भी निर्भयता प्रदान कीजिये ।

२. ईश्वरकृपा से अन्तरक्षि हमें निर्भयता प्रदान करे, द्युलोक और पृथिवीलोक ये दोनों भी निर्भयता प्रदान करें । पीछे, आगे, ऊपर और नीचे भी हमें निर्भयता प्राप्त हो ।

३. मित्र से और शत्रु से भी हमें निर्भयता प्राप्त हो । ज्ञात (जाने पहिचाने) से और अज्ञात प्राणी से भी हमें निर्भयता प्राप्त हो । रात्रि में और दिन में भी हमें निर्भयता मिले और सभी दिशाएँ (दिशाओं में स्थित प्राणी) मेरे मित्र बन जावें ।

४. हे पवित्र तथा सर्वत्र प्राप्त प्रभो ! समीप स्थान में और दूर स्थान में जो भय मुझे प्राप्त हो रहा है, उसे आप दूर कर दीजिये ।

५. जैसे द्युलोक और पृथिवीलोक न तो डरते हैं और न परेशान होते हैं, ऐसे ही हे मेरे प्राण ! तू मत डर ।

६. जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो डरते हैं और न ही परेशान होते हैं, ऐसे ही हे मेरे प्राण! तू भी मत डर ।

७. सत्यमेवाभिजानीमो, नानृते कुर्महे मनः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥

८. यद् ब्राह्मणानां कुशलं, तदेषां कथयामहे ।
नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥

९. अतिथीनन्नपानेन भृत्यानत्यशनेन च ।
सम्भोज्य शेषमश्नीमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥

१०. शान्ता दान्ताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः ।
पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥
तेजस्विदेशवासाच्च, तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ (महाभा.व.१८४.१८-२१)

---

७. हम (महर्षि अरिष्टनेमि आदि) सत्य को ही जानते हैं असत्य में कभी अपना मन ही नहीं लगाते और अपने धर्म का पालन करते हैं, इसलिये हमें मृत्यु का भय नहीं है ।

८. हम वेद और ईश्वर के ज्ञाता विद्वानों से उनका कुशल मङ्गल पूछते रहते हैं और उन पर कभी दुश्चरित्र का व्यर्थ आरोप नहीं लगाते, अतः हमें मृत्यु का भय नहीं है ।

९. हम अतिथियों को विविध भोजन दूध आदि से खिला पिलाकर और भृत्यों को उत्तम भोजन से छकाकर—अच्छी प्रकार तृप्त करके, तब हम बचे हुए भोजन का सेवन करते हैं, अतः हमें मृत्यु का भय नहीं है ।

१०. हम लोग अपनी वृत्तियों को शान्त रखते हैं, मन को कुमार्ग से रोकते हैं, क्षमाशील हैं, गुरुजनों की सेवा में और दान करने में लगे रहते हैं तथा पुण्यात्मा लोगों से युक्त स्थान में निवास करते हैं, अतः हमें मृत्यु का भय नहीं है । तेजस्वी लोगों वाले देश में निवास करने के कारण भी हमें मृत्यु का भय नहीं है ।

—

सत्पुरुषाः

१. ओ३म् ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः ॥
(ऋ.७.६६.१३)

२. य उदाजन् पितरो गोमयं वसु, ऋतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु, प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥
(ऋ.१०.६२.२)

३. वाक् सूनृता दया दानं, दीनोपगतरक्षणम् ।
इति सङ्गः सतां साधु, ह्येतत् सत्पुरुषव्रतम् ॥ (कामन्द.३.२)

४. प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं,
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ (नीति. २८)

---

१. हे नेतृत्व करने वाले सत्पुरुषो ! जो सत्याचरण से युक्त, सत्य से उत्पन्न, सत्य को बढ़ाने वाले, पाप निवारण में कठोरता बरतने वाले और झूठ से द्वेष रखने वाले आप लोग हो, उन आपके (द्वारा सेवित) अत्यन्त तेजोमय सुख में हम सदा वर्त्तमान रहें और जो ज्ञानी लोग हैं, वे भी आपके से सुख में निमग्न रहें ।

२. हे प्रकाशमय जीवन वाले सत्पुरुषो ! जो आप लोग हमारे पालक होकर हमें पृथिवी गौ आदि से युक्त धन उत्कृष्टता से प्राप्त कराते हो और प्रतिवर्ष, बुद्धि को आवृत करने वाले अज्ञान को अपने सत्यज्ञान से विदीर्ण कर देते हो, ऐसे आप लोगों की आयु दीर्घ होवे । हे उत्तम मेधा सम्पन्न सज्जनो ! मानव-मात्र को अपनी शरण में लो।

३. सत्य और मधुर वाणी, दया, दान, दीन-दुःखियों की रक्षा और भली प्रकार से सज्जनों की सङ्गति करना, ये ही सत्पुरुषों के व्रत हैं ।

४. प्रिय किन्तु धर्म पर आधारित जीविका करना, प्राणान्त की संभावना होने पर भी अनुचित कार्य न करना, दुष्टों से कभी प्रार्थना न करना, अल्पधन वाले मित्र से भी याचना न करना, आपत्तिकाल में भी ऊँचे आदर्शों पर स्थिर रहना और महापुरुषों के चरणचिह्नों पर चलना, इन तलवार की धार के समान तीव्र व्रतों का सत्पुरुषों को किसने आदेश दिया है ? अर्थात् किसी ने नहीं । वे स्वभाव से ही इन व्रतों का पालन करते हैं ।

५. विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥
(नीति.६३)

६. सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ (हि.मि.३३)

७. मृद्घटवत् सुखभेद्यो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥ (हि.मि.९२)

८. आमरणान्ताः प्रणयाः, कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा, भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ (हि.मि.१८)

९. श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां, स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा, नाशाभिभङ्गाद् विमुखाः प्रयान्ति ॥
(हि.मि.१९०)

१०. यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते, विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे, सर्वतेजोमय हि सः ॥

---

५. विपत्ति में धैर्य धारण करना, सम्पन्नता के दिनों में भी सहनशीलता, सभा में वाणी का कौशल प्रकट करना, युद्ध में पराक्रम दिखाना, कीर्ति प्राप्त करने में रुचि होना और वेदाभ्यास की आदत होना, ये महान् आत्माओं के स्वभावसिद्ध व्रत हैं ।

६. जिस मनुष्य को सम्पत्ति आने पर हर्ष नहीं होता, विपत्ति आने पर दुःख नहीं होता और युद्ध में भय नहीं होता । ऐसे तीनों लोकों को सुशोभित करने वाले विरले ही सन्तान को कोई माता जन्म देती है ।

७. दुष्ट मनुष्य, मिट्टी के घड़े के समान सरलता से फोड़ा (दूसरों से अलग किया) जा सकता है, पर उसको पुनः जोड़ना महाकठिन है; जबकि सज्जन मनुष्य सोने के घड़े के समान अति कठिनाई से फोड़ा जाता है, किन्तु उसे फिर से सरलता से जोड़ा जा सकता है ।

८. महापुरुषों की प्रीति मृत्युपर्यन्त स्थायी होती है, किन्तु उनका क्रोध तुरन्त शान्त होने वाला होता है और उनके यज्ञ दान आदि त्याग-कर्म आसक्ति रहित होते हैं ।

९. इस पृथिवी पर मनुष्यों में वही एक सत्पुरुष प्रशंसनीय, उत्तम और धन्य है, जिसके पास मांगने आये तथा जिसकी शरण की आस लेकर आये लोग, निराश होकर खाली हाथ नहीं लौटते हैं ।

१०. जिस मनुष्य के प्रसन्न हो जाने पर लोगों को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, जिसके पराक्रम करने पर निश्चित विजय होती है और जिसके क्रोध करने पर दुष्टों की मृत्यु अवश्य होती है, वही मनुष्य सम्पूर्ण तेजों से युक्त है ।

११. आरभन्तेऽल्पमेवाऽज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ (हि.वि.१२२)

१२. यमर्थसिद्धिः परमा न मोहयेत्, तथैव काले व्यसनं न मोहयेत् ।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं, निषेवते यः स धुरन्धरो नरः ॥
(महाभा.शा.२२६.१६)

१३. दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने, दण्डः सदा दुर्जने,
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने, विद्वज्जने चार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने, नारीजने सत्कृतिर्
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥ (नीति.२२)

१४. प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ (नीति.२७)

---

११. सामान्य अल्पज्ञ मनुष्य थोड़े से आरम्भ करते हैं; फिर भी शीघ्र दुःखी हो जाते हैं जबकि बुद्धिमान् लोग किसी कार्य को बड़े स्तरपर आरम्भ करते हैं, और कभी व्याकुल नहीं होते ।

१२. जिसको प्रयोजन की सफलता विचलित न कर सके और किसी समय आई हुई विपत्ति भी विचलित न करे तथा जो सुख, दुःख और दोनों के मध्य की स्थिति को यथावसर सह लेता है, वही मनुष्य 'धुरन्धर' (नेतृत्व करने वाला) कहलाता है ।

१३. आत्मीय जनों के प्रति शालीनता, परायों के प्रति दया, दुष्टों को सदा दण्ड देना, सज्जनों के प्रति प्रेम, राजाओं के विषय में नीति का आचरण, विद्वानों के प्रति सरलता, शत्रुओं पर पराक्रम, गुरुजनों के प्रति सहनशीलता और स्त्रियों के प्रति सत्कार की भावना; इन कलाओं (व्यावहारिक गुणों) में जो मनुष्य कुशल हैं, उन्हीं पर मानो यह संसार टिका हुआ है ।

१४. निम्नकोटि के लोग विघ्नों के डर से किसी शुभ कार्य को आरम्भ ही नहीं करते और मध्य कोटि के लोग कर्म का आरम्भ तो कर देते हैं, किन्तु विघ्नों से सताये जाने पर उस कार्य को बीच में छोड़ देते हैं । पर उत्तम कोटि के लोग विघ्नों के द्वारा बारम्बार प्रताड़ित किये जाने पर भी, आरम्भ किये हुए सत्कार्य को बिना पूर्ण किये मध्य में नहीं त्यागते ।

१५. वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता,
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्।
भक्तिर्ब्रह्मणि शक्तिरात्मदमने, संसर्गमुक्तिः खले,
एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥ (नीति.६२)

१६. प्रदानं प्रच्छन्नं, गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः,
प्रियं कृत्वा मौनं, सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां, निरभिभवसाराः परकथाः,
सतां केनोद्दिष्टं, विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ (नीति.६४)

१७. करे श्लाघ्यस्त्यागः, शिरसि गुरुपादप्रणयिता,
मुखे सत्या वाणी, विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः, श्रुतमधिगतं च श्रवणयो-
र्विनाऽप्यैश्वर्येण, प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥ (नीति.६५)

१८. सम्पत्सु महतां चित्तं, भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैल-शिलासङ्घात-कर्कशम् ॥ (नीति.६६)

---

१५. सज्जनों की सङ्गति की इच्छा, अन्य मनुष्यों में स्थित गुणों में प्रीति, गुरुजनों के प्रति नम्रता, विद्याभ्यास की आदत, अपनी स्त्री से ही सन्तोष, लोकनिन्दा से भय, ईश्वर में भक्ति, अपने आपके नियन्त्रण में शक्ति का प्रयोग और दुष्टों की सङ्गति से बचे रहना, ये पवित्र गुण जिनमें निवास करते हैं; उन मनुष्यों को हमारा नमस्कार है ।

१६. गुप्त रूप से दान देना, घर पर आये हुए का तत्परता से सत्कार करना, किसी का प्रिय कार्य करके चुप रहना और दूसरे के द्वारा अपना कार्य किये जाने पर उसका सभा में बखान करना, धनसम्पत्ति होने पर अभिमान न करना और दूसरों की चर्चा के प्रसंग में उनके लिये अपमानजनक वचन न कहना, इन तलवार की धार के समान तीक्ष्णव्रतों को करने का सत्पुरुषों को किसने आदेश दिया है ? अर्थात् किसी ने नहीं । वे अपने आप ही इन व्रतों का पालन करते हैं ।

१७. हाथ में प्रशंसनीय दानकर्म, सिर में गुरुजनों के चरणों के प्रति श्रद्धा, मुख में सत्यवाणी, भुजाओं में विजय दिलाने वाला अनुपम बल, हृदय में निर्मल स्वभाव और कानों में प्राप्त किया हुआ शास्त्रज्ञान, ये उत्तम गुण, स्वभाव से ही महान् पुरुषों के बिना सम्पत्ति के भी उत्तम आभूषण हैं ।

१८. सम्पन्नता के दिनों में महापुरुषों का चित्त कमल-पुष्प की पंखुड़ी के समान कोमल रहता है और आपत्तियों में महापर्वत की विशाल शिला के समान कठोर बन जाता है।

१९. **भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-**
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः -
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः,
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ (नीति.७१)

२०. **एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,**
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥ (नीति.७५)

२१. **मनसि वचसि काये, पुण्यपीयूषपूर्णास्**
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून्, पर्वतीकृत्य नित्यं,
निजहृदि विकसन्तः, सन्ति सन्तः कियन्तः ॥ (नीति.७९)

२२. **अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः ।**
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित् क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥ (नीति.१०६)

---

१९. जैसे फलों के लगने पर वृक्ष झुक जाते हैं और नये-नये जलों से भरे हुए बादल भूमि की ओर नीचे दूर-दूर तक लटक जाते हैं, ऐसे ही ऐश्वर्यों के आने पर सत्पुरुष अभिमान रहित – विनम्र हो जाते हैं, क्योंकि परोपकारी जनों का ऐसा स्वभाव ही है।

२०. एक तो वे सत्पुरुष होते हैं जो स्वार्थ को त्यागकर भी परोपकार में लगे रहते हैं; साधारण मनुष्य वे होते हैं, जो स्वार्थ की हानि न करते हुए परोपकार के कार्य में भाग लेते हैं और वे मनुष्य के रूप में राक्षस हैं जो स्वार्थ-सिद्धि के लिये दूसरों के हित को नष्ट करते हैं; किन्तु जो निरर्थक ही—अपने स्वार्थ की सिद्धि उससे चाहे न हो, तो भी परहित को नष्ट करते हैं, उन्हें हम किस दुष्ट नाम से पुकारें ?

२१. जिन्होंने अपने मन, वाणी तथा शरीर में पुण्य-कर्म रूपी अमृत भरा हुआ है और जो अपने परोपकार के कर्मों से तीनों लोकों को तृप्त करते हैं । जो अन्यों के अल्प से भी गुणों को पर्वत के समान विशाल समझते हुए अपने हृदय में विकसित करते हैं, ऐसे सत्पुरुष कितने हैं ? अर्थात् कोई-कोई विरले ही हैं ।

२२. कटुवचन बोलने में कंजूसी करने वाले, मधुर वचन बोलने में अति उदार, अपनी स्त्री से ही सन्तुष्ट रहने वाले और पराई निन्दा से बचने वाले, ऐसे सत्पुरुषों से यह पृथिवी कहीं कहीं ही सुशोभित है (सर्वत्र नहीं) ।

—

आचार्यः (गुरुः)

१. उपनीय तु यः शिष्यं, वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च, तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (मनु.२.१४०)

२. आचार्यः कस्मादाचार्यः आचारं
ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा ॥ (निरुक्तम्.१.४)

३. उत्पादक-ब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य, प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ (मनु.२.१४६)

४. आचार्यस्त्वस्य यां जातिं, विधिवद् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या, सा सत्या साऽजराऽमरा ॥ (मनु.२.१४८)

५. यः श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेद्, विद्यामविद्यस्य यथा ममायम् ।
तं मन्येऽहं पितरं मातरं च, तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥

६. ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य, निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः ।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं, पापान् लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ॥
(महाभा.आदि.७६.६३,६४)

---

१. जो विद्यावान् मनुष्य, शिष्य का उपनयम करके उसे कल्प (श्रौत, गृह्य, धर्म, शुल्ब सूत्र) सहित और रहस्य (उपनिषद्) सहित सम्पूर्ण वेद पढ़ावे; उसे ही आचार्य कहते हैं ।

२. आचार्य को आचार्य क्यों कहते हैं ? क्योंकि वह शिष्यों को आचरण का ग्रहण कराता है, उनके चित्त में शास्त्रों के अर्थों को सञ्चित करता है तथा उनकी बुद्धि की अभिवृद्धि करता है; इसीलिये उसे आचार्य कहते हैं ।

३. उत्पन्न करने वाले (भौतिक शरीर देने वाले) और वेदज्ञान प्रदान करने वाले इन दो प्रकार के पिताओं में से; वेदज्ञान-प्रदाता (आचार्य) रूप पिता ही अधिक बड़ा है ।

४. वेदों का पारङ्गत आचार्य, सावित्री आदि मन्त्रों के ज्ञानादि-दान के माध्यम से अपने शिष्य की जिस जाति (जन्म) को निर्धारित करता है, वही सच्ची जाति है और वही अजर अमर रहने वाली है ।

५. जो मेरे जैसे विद्याहीन मनुष्य के कानों में विद्या रूपी अमृत सींचे उस आचार्य को मैं अपना पिता और माता मानता हूँ । कोई भी मनुष्य ऐसे गुरु से, उसके किये उपकार का स्मरण करते हुए कभी द्रोह न करे ।

६. अतिश्रेष्ठ सत्यज्ञान को देने वाले तथा कोशों में उत्तम विद्या रूपी कोश को प्राप्त कराने वाले पूजनीय गुरु का, जो उनसे विद्या पाये लोग आदर नहीं करते; वे अस्थिर-मति होकर पापजनित दुःखमय लोकों को प्राप्त होते हैं ।

७. अल्पं वा बहु वा यस्य, श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ (मनु.२.१४९)

८. स्वर्गो धनं वा धान्यं वा, विद्या पुत्रः सुखानि च ।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन, न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥ (वाल्मीकि.अ.३०.३६)

९. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय, न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम् ॥

१०. यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं, मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह, तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥
(निरु.२.४)

११. उपनीय गुरुः शिष्यं, शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च, सन्ध्योपासनमेव च ॥ (मनु.२.६९)

१२. धर्मार्थौ यत्र न स्यातां, शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या, शुभं बीजमिवोषरे ॥ (मनु.२.११२)

---

७. जो किसी का थोड़े या अधिक रूप में विद्यादान से उपकार करता है, उसे भी विद्या रूपी उपकार के कारण गुरु जानना चाहिये ।

८. स्वर्ग, धन, अन्न, विद्या, सन्तान और अन्य जो सुख हैं; उनमें से कोई भी दुर्लभ नहीं है, यदि गुरु के सन्मार्ग का अनुसरण किया जाय तथा गुरु का पालन-पोषण किया जाय तो ।

९-१०. विद्या ब्राह्मण (विद्वान्) के समीप आई और बोली–हे विद्वन् ! मेरी रक्षा कर, मैं तेरा खजाना हूँ । जो गुणों में दोषारोपण करने वाला, कुटिल और असंयमी आलसी हो उसे मेरा प्रवचन मत करना, जिससे मैं सामर्थ्य वाली बनी रहूं । किन्तु हे ब्रह्मन् ! जिसे तुम पवित्र,अप्रमादी, बुद्धिशाली, ब्रह्मचर्यपालक समझो तथा जो तुमसे कभी द्रोह न करे उस, विद्याकोश के रक्षक शिष्य को, मेरा प्रवचन करना ।

११. गुरु शिष्य का उपनयन करके सर्वप्रथम उसे पवित्रता सिखावे । तत्पश्चात् शिष्टाचार, अग्निहोत्र और सन्ध्योपासना की शिक्षा दे ।

१२. जहाँ धर्म और अर्थ की सिद्धि सम्भव न हो और न ही अच्छी सेवापूर्वक श्रवणलालसा हो वहाँ विद्या न देवे । ऐसे मनुष्य को विद्या पढ़ाना ऊसर भूमि में उत्तम बीज बोने के समान है ।

१३. अध्यापिता ये गुरून्नाद्रियन्ते, विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥
(निरु.२.४)

१४. नमो नमस्ते गुरवे महात्मने, विमुक्तसङ्गाय सदुत्तमाय ।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे, भूम्ने सदाऽपारदयाम्बुधाम्ने ॥
(विवे.४८७)

—

पण्डितः

१. निषेवते प्रशस्तानि, निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम् ॥

२. क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च, ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति, स वै पण्डित उच्यते ॥

३. यस्य कृत्यं न जानन्ति, मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानन्ति, स वै पण्डित उच्यते ॥

---

१३. जो विद्या पढ़ाये हुए ज्ञानवान् शिष्य अपने गुरुओं का वाणी, मन और आचरण से आदर नहीं करते, तो जैसे वे गुरु का पालन नहीं करते, वैसे ही उनका पढ़ा हुआ ज्ञान भी उनके काम नहीं आता ।

१४. महान् आत्मा वाले, आसक्ति से रहित, सत्पुरुषों में उत्तम, सदा परमानन्दरस में निमग्न रहने वाले, विशाल ज्ञान वाले और अपार दया के सागर आप गुरु देव के प्रति हमारा बारम्बार नमस्कार है ।

—

१. जो प्रशंसित कर्मों और पदार्थों का सेवन करता है और निन्दितों का सेवन नहीं करता, जो आस्तिक है और श्रद्धालु है; यही पण्डित का लक्षण है ।

२. क्रोध, हर्ष, अहङ्कार, लज्जा, जड़ता और अभिमान ये जिस मनुष्य को अपने लक्ष्य से च्युत नहीं कर पाते, वही पण्डित कहलाता है ।

३. जिस मनुष्य के कर्त्तव्य कर्म को, विचारणीय विमर्श को और जिसकी गुप्त मन्त्रणा को अन्य लोग नहीं जान पाते, अपितु जिसके कर चुके कर्म का ही लोगों को ज्ञान होवे; वही पण्डित कहलाता है ।

४. यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा, स वै पण्डित उच्यते ॥

५. यस्य संसारिणी प्रज्ञा, धर्मार्थावनुवर्त्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः, स वै पण्डित उच्यते ॥

६. यथाशक्ति चिकीर्षन्ति, यथाशक्ति च कुर्वते ।
न किञ्चिदवमन्यन्ते, नराः पण्डितबुद्धयः ॥

७. क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नाऽसम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥
(महाभा.उ.३३.२१-२७)

८. नाऽप्राप्यमभिवाञ्छन्ति, नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति, नराः पण्डितबुद्धयः ॥

९. निश्चित्य यः प्रक्रमते, नान्तर्वसति कर्मणः ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा, स वै पण्डित उच्यते ॥

---

४. जिसके कर्त्तव्य को सर्दी, गर्मी, भय, प्रेम, सम्पन्नता अथवा दरिद्रता ये नहीं रोक पाते हैं; वही पण्डित कहलाता है ।

५. जिसकी सांसारिक व्यवहार वाली बुद्धि भी धर्म और अर्थ का ही अनुसरण करती है और जो काम की अपेक्षा अर्थ का वरण करता है; वही पण्डित कहलाता है ।

६. जो अपने सामर्थ्य के अनुसार ही किसी कर्म को करने की इच्छा करते हैं और फिर सामर्थ्यानुसार ही उसे करते हैं तथा जो किसी का अपमान नहीं करते; वे ही मनुष्य पण्डितबुद्धि वाले होते हैं ।

७. जो शीघ्र ही किसी तथ्य को जान लेता है, पर देर तक श्रवण करता है और अभिप्राय को समझने के पश्चात् मनमर्जी उसका अर्थ नहीं लगाता है तथा जो बिना पूछे दूसरे के विषय में व्यर्थ बात नहीं कहता; इस प्रकार का आचरण पण्डित का प्रथम लक्षण है ।

८. पण्डितबुद्धि वाले लोग अप्राप्तव्य वस्तु की कामना नहीं करते, नष्ट हुई वस्तु पर शोक करना पसन्द नहीं करते और आपत्तियों में घबराते नहीं हैं ।

९. जो पहिले निश्चय करके फिर कर्म का आरम्भ करता है, कर्म के बीच में ही ठहर नहीं जाता, समय को व्यर्थ नहीं गंवाता और जो अपने आपको वश में रखता है; वही पण्डित कहलाता है ।

१०. आर्यकर्मणि रज्यन्ते, भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयन्ति, पण्डिता भरतर्षभ ॥

११. न हृष्यत्यात्मसम्माने, नावमानेन तप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥

१२. तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां, योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां, नरः पण्डित उच्यते ॥

१३. प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च, यः स पण्डित उच्यते ॥

१४. श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य, प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्यमर्यादः, पण्डिताख्यां लभेत सः ॥

(महाभा.उ.३३.२८-३४)

१५. न पण्डितः क्रुध्यति नाभिपद्यते, न चापि संसीदति न प्रहृष्यति ।
न चार्थकृच्छ्रव्यसनेषु शोचते, स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाऽचलः ॥

(महाभा.शा.२२६.१५)

---

१०. जो श्रेष्ठ कर्म में रुचि रखते हैं, ऐश्वर्यवर्धक कार्यों का सम्पादन करते हैं और किसी के हितकारक कार्य में दोष नहीं निकालते; हे भरतश्रेष्ठ ! वे ही जन पण्डित है ।

११. जो अपना सम्मान होने पर अतिप्रसन्न नहीं होता और अपने अपमान से सन्तप्त नहीं होता और गङ्गा की गहरी जलराशि के समान जो चञ्चलता से रहित है; वह पण्डित कहलाता है ।

१२. जो सब जड़चेतन पदार्थों की वास्तविकता को जानने वाला है, जो सब कर्मों के करने की युक्ति का ज्ञाता है और जो मनुष्यों में उपायों का उत्तम ज्ञाता है; वह मनुष्य पण्डित कहलाता है ।

१३. (सभा आदि में) जिसकी वाणी अबाधगति वाली है, जो अद्‌भुत ढंग से कथन करता है तथा जिसकी कही कथाएँ आश्चर्यजनक होती हैं, जो तर्कशाली है, प्रतिभा सम्पन्न है और किसी ग्रन्थ (शास्त्र) का शीघ्र प्रवचन कर सकता है; वह पण्डित कहलाता है ।

१४. जिसकी विद्या बुद्धि के अनुकूल है और बुद्धि विद्या (शास्त्र) के अनुकूल है तथा जो श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता वह; 'पण्डित' की पदवी पा सकता है।

१५. पण्डित मनुष्य न क्रोध करता है और न अभिमान करता है; न वह अति दुःखी होता है और न अति प्रसन्न होता है । वह आर्थिक कठिनाई में और आपत्तियों में शोक नहीं करता और वह स्वभाव से ही हिमालय के समान अचल और शान्त रहता है ।

१६. प्रस्तावसदृशं वाक्यं, सद्भावसदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्तिसमं कोपं, यो जानाति स पण्डितः ॥ (हि.सु.५१)

१७. मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः ॥ (हि.सु.१४)

—

आर्यः

१. न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं, न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं, तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥

२. न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात्कुरुतेऽनुतापं, स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥
(महाभा.उ.३३.११७,११८)

३. कर्त्तव्यमाचरन् कार्यमकर्त्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः ॥ ( )

---

१६. जो मनुष्य प्रस्ताव के अनुरूप बोलने योग्य वाक्य को, उत्तम भावों के अनुरूप प्रीतिपात्र को और अपने सामर्थ्य के अनुरूप क्रोध की मर्यादा को जानता है; वही पण्डित है ।

१७. जो मनुष्य पराई स्त्रियों में अपनी माता के समान, पराये धन में मिट्टी के ढेले के समान और सब प्राणियों में अपने समान भावना रखता है; वही पण्डित है ।

—

आर्य

१. जो शान्त हुए वैर को पुनः नहीं भड़काता है, जो अभिमान नहीं करता, जो अपने अस्तित्व को मिटने नहीं देता और जो 'मैं कठिन परिस्थिति में हूँ' ऐसा विचार करके बुरा कर्म नहीं करता, उसे ही श्रेष्ठ लोग 'आर्य' चरित्र वाला कहते हैं ।

२. जो अपने सुख में प्रसन्न नहीं होता और दूसरे के दुःख में हर्षित नहीं होता तथा जो किसी को कुछ देकर पीछे सन्तप्त नहीं होता–पश्चात्ताप नहीं करता; वही सत्पुरुष आर्य चरित्र वाला कहलाता है ।

३. जो करने योग्य उत्तम कर्म को करता है और न करने योग्य दुष्ट कर्म को नहीं करता है तथा जो श्रेष्ठ आचरण में स्थिर रहता है; वही निश्चय से आर्य माना गया है ।

४. प्रायः कन्दुकपातेनोत्पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा त्वनार्यः पतति, मृत्पिण्डपतनं यथा ॥ (नीति.११७)

—

मधुरवचनम्

१. ओ३म् मधुमन्मे निक्रमणं, मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद्, भूयासं मधुसन्दृशः ॥ (अथर्व.१.३४.३)

२. जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो, मम चित्तमुपायसि ॥ (अथर्व.१.३४.२)

३. काकः कृष्णः पिकः कृष्णः, को भेदः पिककाकयोः ।
वसन्तकालसम्प्राप्तौ, काकः काकः पिकः पिकः ॥

---

४. आर्य, पतित होने पर भी गेंद के गिरने के समान तुरन्त ऊपर उठ जाता है—पतन से अपने आप को उबार लेता है । जबकि अनार्य पतित होता है, तो मिट्टी के ढेले के गिरने के समान फिर कभी नहीं उठता—अपना उद्धार नहीं करता ।

—

मधुरवचन

१. मेरा, किसी के निकट जाना माधुर्यपूर्ण हो और किसी से दूर जाना भी माधुर्यमय हो। मैं वाणी से मधुर बोलूं और पूर्णरूप से मधु (शहद) के समान माधुर्यपूर्ण हो जाऊं।

२. मेरी जिह्वा के अग्रभाग में माधुर्य बसे और जिह्वा के मूल में माधुर्य का स्रोत बहे । हे माधुर्यरूप प्रभो ! मेरी बुद्धि में, मेरे कर्म में और मेरी स्मृति में भी तुम विराजमान रहो।

३. कौआ भी काला और कोयल भी काली, इस प्रकार कोयल और कौए में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता । किन्तु वसन्त ऋतु आने पर कौआ कौआ ही रहता है और कोयल कोयल ही अर्थात् (मीठी ध्वनि से) कोयल और कौए का भेद प्रतीत हो जाता है ।

—

भारतवर्षम् (ब्रह्मावर्त्तः=आर्यावर्त्तः)

१. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं, ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥

२. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥ (मनु.२.१७,२२)

३. अत्र ते कीर्त्तयिष्यामि, वर्षं भारत भारतम् ।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य, मनोर्वैवस्वतस्य च ॥

४. पृथोस्तु राजन् वैन्यस्य, तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः ।
ययातेरम्बरीषस्य, मान्धातुर्नहुषस्य च ॥

५. तथैव मुचुकुन्दस्य, शिबेरौशीनरस्य च ।
ऋषभस्य तथैलस्य, नृगस्य नृपतेस्तथा ॥

६. कुशिकस्य च दुर्धर्ष ! गाधेश्चैव महात्मनः ।
सोमकस्य च दुर्धर्ष, दिलीपस्य तथैव च ॥

७. अन्येषां च महाराज ! क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।
सर्वेषामेव राजेन्द्र, प्रियं भारत भारतम् ॥ (महाभा.भी.९.५-९)

१-२. सरस्वती (सिन्धु) और दृषद्वती (ब्रह्मपुत्रा) इन दो देवनदियों के मध्य में तथा पूर्वसमुद्र (बंगाल की खाड़ी) और पश्चिम समुद्र (अरब सागर) के मध्य में और हिमालय पर्वत-शृंखला और विन्ध्याचल पर्वतमाला के विस्तार-पर्यन्त जो देश बसा हुआ है, उसे देवों के द्वारा बसाया हुआ होने से **'देवभूमि'**; ब्रह्म (वेद) का देश (आवर्त) होने से 'ब्रह्मावर्त्त'; आर्यों का देश होने से **'आर्यावर्त्त'** और भरतवंशियों से शासित होने के कारण **'भारतवर्ष'** कहते हैं ।

३-७. हे भरतवंशी, राजाओं में श्रेष्ठ, तीव्र तेजवाले धृतराष्ट्र ! मैं तुम्हारे समक्ष भारतवर्ष का वर्णन करूंगा जो कि–देवश्रेष्ठ इन्द्र, वैवस्वत मनु, वैन्य पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, औशीनर शिबि, ऐल, ऋषभ, नृग, कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप इन महाराजाओं का और अन्य अनेक सभी बलशाली क्षत्रियों का सदा प्रिय रहा है ।

—

सन्ध्या, जप:

१. ओ३म् वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च ।
इन्द्र त्वाऽऽवर्त्तयामसि ॥ (यजु.१८.६८)

२. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतं स्मर ॥ (यजु.४०.१५)

३. ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्, दीर्घमायुरवाप्नुवन् ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिञ्च, ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ (मनु.४.९४)

४. पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्, सावित्रीमाऽर्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः, सम्यगृक्षविभावनात् ॥

५. पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ (मनु.२.१०१,१०२)

---

१. हे दुर्गुणों दु:खों के नाशक परमेश्वर ! काम क्रोधादि के नाश करने वाले और सांसारिक नाना आकर्षण रूपी सेनाओं का प्रतिरोध करने वाले बल की प्राप्ति के लिये, हम तुझे बारम्बार अपने ध्यान में लाते हैं–बारम्बार तेरा जप करते हैं ।

२. देहदेहान्तर में गतिशील आत्मा अभौतिक है–अमरणधर्मा है जबकि यह भौतिक देह अन्त में भस्म रूप में परिणत होने वाला है । हे कर्मशील जीवात्मन् ? तू ओ३म् (सर्वरक्षक ईश्वर) को स्मरण कर–उसका जप कर, सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये उसे स्मरण कर और अपने कर्मों को स्मरण कर–उनका निरीक्षण कर ।

३. ऋषियों ने लम्बे-लम्बे समय तक सन्ध्या करके दीर्घ आयु, बुद्धि, यश, प्रसिद्धि और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया था ।

४. मनुष्य प्रतिदिन प्रात:कालीन सन्ध्यावेला में सूर्योदय तक सावित्री (गायत्री) जप करता रहे । और सायंकालीन सन्ध्याकाल में भली प्रकार तारों के दिखने तक सावित्री-जप करता रहे ।

५. प्रात:कालीन सन्ध्याकाल में जप करता हुआ मनुष्य रात्रि में किये गये पापों को पुन: न करने का सामर्थ्य जुटाता है और सायं सन्ध्यावेला में जप करता हुआ दिन में किये गये दुष्कर्मों से निवृत्त होने का बल प्राप्त करता है ।

६. अपां समीपे नियतो, नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत, गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥ (मनु.२.१०४)

७. आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ (मनु.४.२२२)

—

यज्ञः (अग्निहोत्रम्)

१. **ओ३म् ज्यैष्ठयं च म आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मे**
ऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे
वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे
यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (यजु.१८.४)

२. **मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।**
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ (अथर्व.६.४१.१)

३. **सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता ।**
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥

---

६. मनुष्य प्रतिदिन वन में जाकर, नदी सरोवर आदि के तट पर बैठ कर, दैनिक नित्यकर्त्तव्य प्राणायामादि करके सावित्री मन्त्र का अर्थ-चिन्तन-पूर्वक जप करे ।

७. मनुष्य प्रतिदिन दोनों सन्ध्यावेलाओं में शुद्ध स्थान पर बैठकर, आचमन करके एकाग्र होकर विधिपूर्वक, प्रणव (ओ३म्) का अर्थ-चिन्तनपूर्वक जप करता हुआ ईश्वरोपासना करे ।

—

१. यज्ञ (अग्निहोत्रादि) के द्वारा मेरे बड़प्पन, प्रभुत्व, मन्यु, तेज, ज्ञान, शान्ति, विजय, महत्त्व, विशालता, विस्तार, वृद्धि, दीर्घत्व, बढ़े हुए पदार्थ और विकास सिद्ध—सफल होवें ।

२. हम लोग मननशक्ति के लिये, चिन्तन-शक्ति के लिये, कर्मठता के लिये, सङ्कल्प-शक्ति के लिये, स्मृति के लिये, बुद्धि के लिये, शास्त्रज्ञान के लिये और दर्शन-शक्ति के लिये हविर्दान करें—अग्निहोत्र करें ।

३. प्रत्येक सायंकाल आहुति दिया हुआ अग्नि प्रत्येक प्रातःकाल तक मानसिक प्रसन्नता प्रदान करता है । ऐसा अग्नि प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य से सम्बद्ध धन का प्रदाता होता है । हम अग्निहोत्रीय अग्नि को सुप्रदीप्त करते हुए अपने शरीरों को पुष्ट करें ।

४. प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥
(अथर्व.१९.५५.३,४)

५. नौर्ह वा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम् ॥ (शत.२.३.३.१५)

६. अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ (महाभा.भी.२७.१४)

७. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (महाभा.भी.२७.१३)

८. अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते, पौर्णमासेन चैव हि ॥ (मनु.४.२५)

९. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ (मनु.३.७६)

---

४. प्रत्येक प्रातःकाल आहुति दिया हुआ अग्नि प्रत्येक सायंकाल तक मानसिक शान्ति प्रदान करता है । ऐसा अग्नि सर्व ऐश्वर्यों का दाता होता है । हम इस अग्नि को घृतादि से सुप्रदीप्त करते हुए, सौ वर्ष तक वृद्धि को प्राप्त होते रहें ।

५. यह जो अग्निहोत्र है, वह वस्तुतः स्वर्ग (अत्यन्त सुख) प्राप्त कराने वाली नौका के समान है ।

६. अन्न से प्राणियों का जीवन स्थिर रहता है, बादलों से अन्न की उत्पत्ति होती है । यज्ञ से बादल बनते हैं और यज्ञ पुरुषार्थ से किया जा सकता है ।

७. यज्ञ करने से बचे हुए शेष भोज्य पदार्थों को खाने वाले मनुष्य सब प्रकार के पापों से छूट जाते हैं । पर जो मनुष्य केवल अपने खाने मात्र के लिये ही भोजन पकाते हैं, वे तो केवल पाप का ही भक्षण करते हैं ।

८. मनुष्य प्रतिदिन दिन और रात्रि के आदि अन्त में अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल अग्निहोत्र करे। कृष्ण पक्ष के अन्तिम दिन (अमावस्या को) शास्त्रोक्त दर्शविधि से तथा शुक्ल पक्ष के अन्तिम दिन (पौर्णमासी को) पौर्णमासविधि से विशिष्ट हवन करे।

९. विधिपूर्वक उत्तमरीति से अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य-किरणों को प्राप्त होती है। ऐसी सूर्यकिरणों से उत्तम वृष्टि होती है, उत्तम वृष्टि से उत्तम अन्न और उत्तम अन्न से उत्तम सन्तान ।

१०. हविराज्यं पुरोडाशः, कुशा यूपाश्च खादिराः ।
नैतानि यातयामानि, कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ (वाल्मी.अ.६१.१७)

११. यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्त्तो अग्नये ।
यो नमसा स्वध्वरः ।।

१२. तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः ।
न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत् ॥ (ऋ.८.१९.४,५)

—

शिष्यः (विद्यार्थी)

१. आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः, पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी ।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी ॥
(महाभा.आदि.९१.२)

२. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च, पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं, स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ (मनु.२.७१)

---

१०. अध्वर (यज्ञ) में मोदक आदि हवि, घृत, भात आदि पुरोडाश, दर्भ और खैर आदि से निर्मित यज्ञस्तम्भ ये वस्तुएँ बासी पुरानी नहीं ली जाती हैं ।

११-१२. जो मनुष्य अग्नि को उत्तम यज्ञिय इन्धन से प्रदीप्त करके उसमें वेदमन्त्र के उच्चारण के साथ आहुति लगाता है । इस प्रकार जो श्रद्धापूर्वक उत्तम अन्न का होम करता हुआ उत्तम यज्ञ करने वाला बन जाता है, उसको शीघ्र-वेगवाले वाहन वहन करते हैं, उसकी तेजपूर्ण कीर्त्ति फैलती है और उसको कहीं से भी न तो भौतिक पदार्थों से उत्पन्न कष्ट और न मनुष्यों के द्वारा दिये गये कष्ट प्राप्त होते हैं ।

—

१. गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर अध्ययन में लग जाने वाला, गुरु के कार्यों में बिना प्रेरणा किये तत्पर रहने वाला, गुरु से पूर्व जागने वाला और पीछे सोने वाला, कोमल स्वभाव वाला, मन को वश में रखने वाला, धैर्यशाली, प्रमाद न करने वाला तथा नशा न करने वाला और स्वाध्याय में लीन रहने वाला ब्रह्मचारी (छात्र) ही अपने लक्ष्य में सफल होता है ।

२. विद्याभ्यास के आरम्भ में तथा समाप्ति पर सदा गुरु के चरणों का स्पर्श करना चाहिये। (केवल श्रवण करना हो तब) दोनों हाथ जोड़कर अध्ययन करना चाहिये । दोनों हाथों को जोड़कर रखना ही ब्रह्माञ्जलि कहलाता है ।

३. व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ (मनु.२.७२)

४. य आतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च, तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥ (निरु.२.४)

५. वर्जयेन्मधु मांसं च, गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि, प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥

६. अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्र-धारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च, नर्त्तनं गीतवादनम् ॥

७. द्यूतं च जनवादं च, परिवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ (मनु.२.१७७-१७९)

८. एकः शयीत सर्वत्र, न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो, हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ (मनु.२.१७७)

९. दूरादाहृत्य समिधः, सन्निदध्याद् विहायसि ।
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ (मनु.२.१८६)

---

३. गुरु के चरणों का स्पर्श करते समय (गुरु के समक्ष स्थित होने पर शिष्य के दोनों हाथों की जो स्थिति बने उससे) उलटी स्थिति वाले हाथों से चरण स्पर्श करना चाहिये अर्थात् शिष्य को अपने बायें हाथ से गुरु के बायें चरण का और दाहिने हाथ से गुरु के दाहिने चरण का स्पर्श करना चाहिये ।

४. जो गुरु ज्ञान रूपी अमृत प्रदान करता हुआ बिना कष्ट पहुंचाये शिष्य के कानों को सत्यविद्या से परिपूर्ण कर देता है; उस गुरु को शिष्य पिता और माता के समान समझे और उसके प्रति किसी भी स्थिति में द्रोह न करे ।

५-७. ब्रह्मचारी (छात्र) निम्नलिखित वस्तुओं का परित्याग कर देवे—मद्य, मांस, गन्ध, माला, उत्तेजक रसीले पदार्थ, स्त्रीसङ्ग, सम्पूर्ण अतिखट्टे पदार्थ, प्राणियों की हिंसा, तैलमालिश तथा उपस्थेन्द्रिय का मर्दन, आँखों में अञ्जन, छाते और जूते का धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना-बजाना, जुआ, गप्पें लगाना तथा पराई चर्चा करते रहना, दूसरों की निन्दा, झूठ, स्त्रियों को कुदृष्टि से देखना तथा स्पर्श करना और दूसरों का बुरा करना ।

८. ब्रह्मचारी (छात्र) सर्वत्र अकेला ही सोवे, कहीं भी वीर्य को न गिरावे । जान बूझकर कामनावश वीर्यपात करने वाला अपने व्रत को विनष्ट करता है ।

९. दूर (स्थित शुद्ध) स्थान से समिधाएँ लाकर उन्हें ऊँचे स्थान पर रखे और उनसे सायंकाल तथा प्रातःकाल निरालस होकर हवन करे ।

१०. चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ (मनु.२.१९१)

११. नीचः शय्यासनं चास्य, सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये, न यथेष्टासनो भवेत् ॥

१२. नोदाहरेदस्य नाम, परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत, गतिभाषितचेष्टितम् ॥

१३. गुरोर्यत्र परीवादो, निन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ, गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ (मनु.२.१९८-२००)

१४. यथा खनन् खनित्रेण, नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां, शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ (मनु.२.२१८)

१५. आलस्यं मदमोहौ च, चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते वा अष्ट दोषाः स्युः, सदा विद्यार्थिनां मताः ॥

---

१०. गुरु के प्रेरणा करने पर और बिना प्रेरणा किये भी शिष्य अध्ययन में तथा गुरु के हितसाधक कार्यों में प्रयत्न करता रहे ।

११. गुरु के समीप शिष्य का बिस्तर तथा बैठने का आसन सदा गुरु के बिस्तर तथा आसन से नीचा रहना चाहिये और शिष्य, गुरु की आँखों के सामने मनचाहे ढंग से न बैठे ।

१२. शिष्य, गुरु की अनुपस्थिति में भी उसका (बिना आदरसूचक विशेषण लगाये) केवल नाम का उच्चारण न करे और गुरु की चाल, बोली और चेष्टाओं की नकल न निकाले ।

१३. जहाँ गुरु के किसी अवगुण का कथन हो रहा हो अथवा व्यर्थ की निन्दा हो रही हो वहाँ शिष्य को अपने कान ढक लेने चाहियें अथवा उस स्थान से दूर चले जाना चाहिये ।

१४. जैसे मनुष्य कुद्दालादि से भूमि को खोदता-खोदता अन्त में जल को प्राप्त कर लेता है; वैसे ही श्रवण की लालसा वाला और सेवा करने वाला शिष्य गुरु में विद्यमान विद्या को प्राप्त कर लेता है ।

१५. आलस्य, नशा करना, मोह, चञ्चलता, गपशप करना, जड़ता, अभिमान और त्याग का अभाव (संग्रहवृत्ति एवं स्वार्थ-परायणता) ये आठ प्रकार के दोष प्रायः विद्यार्थियों के माने गये हैं ।

१६. सुखार्थिनः कुतो विद्या, नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां, विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥
(महाभा.उ.४०.५,६)

१७. काकचेष्टो बकध्यानी, बुक्कनिद्रस्तथैव च ।
अल्पाहारी गृहत्यागी, विद्यार्थी पञ्चलक्षणः ॥

१८. इमां धियं शिक्षमाणस्य देव, क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि ।
ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम ॥
(ऋ.८.४२.३)

—

शिष्टाचारः

१. शय्यासनेऽध्याचरिते, श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवैनं, प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ (मनु.२.११९)

२. अभिवादयेद् वृद्धांश्च, दद्याच्चैवाऽऽसनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत, गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ (मनु.४.१५४)

---

१६. (क्षणिक) सुख चाहने वाले को विद्या कैसे प्राप्त हो सकती है और विद्यार्थी (विद्या चाहने वाले) को क्षणिक सुख नहीं मिल सकता है। क्षणिक सुख की कामना वाला विद्या को त्याग दे अथवा विद्या की कामना वाला क्षणिक सुख को त्याग दे ।

१७. कौए के समान चेष्टा वाला अर्थात् स्फूर्तिमान्, बगुले के समान ध्यान वाला (एकाग्रचित्त), कुत्ते के समान निद्रा वाला, कम भोजन करने वाला और घर (के मोह) को त्यागने वाला–इन पांच लक्षणों वाला विद्यार्थी होता है ।

१८. हे सतत ईक्षण करने वाले आचार्य ! आप इस विद्यार्थी-समूह की बुद्धि, कर्म-शक्ति और निपुणता को सम्पूर्ण और अनुशासनयुक्त बनाइये । जिससे हम लोग ज्ञान तथा अनुशासन रूपी नौका पर चढ़कर अज्ञान आदि दुर्गुणों तथा दुःखों को पार कर लें।

—

१. अपने से बड़े के द्वारा प्रयोग में लाये जाते हुए बिस्तर और आसन पर छोटा न लेटे न बैठे । छोटा यदि बिस्तर या आसन पर बैठा हो और बड़ा आ जाय, तो उठकर उसको अभिवादन करे ।

२. बड़ों को अभिवादन करे और उनके लिये अपना आसन प्रदान करे । हाथ जोड़ कर उनके पास उपस्थित रहे और यदि वे चलने लगें तो उनके पीछे-पीछे जावे ।

३. वित्तं बन्धुर्वयः कर्म, विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि, गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ (मनु.२.१३६)

४. तृणानि भूमिरुदकं, वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतानि तु सतां गेहे, नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ (महाभा.उ.३६.३४)

५. यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं, न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किञ्चित् प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥
(महाभा.उ.३३.११६)

६. मितं भुङ्क्ते संविभज्याऽऽश्रितेभ्यो, मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः संस्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥
(महाभा.उ.३३.१२३)

७. आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति, सुकृतं चास्य विन्दति ॥ (महाभा.उ.३६.५)

८. चक्रिणो दशमीस्थस्य, रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च, पन्था देयो वरस्य च ॥ (मनु.२.१३८)

---

३. धन, बन्धु, आयु, कर्म और पांचवीं विद्या ये पांच पूज्यता के आधार हैं । इनमें से पहिले से बाद वाला अधिक अधिक श्रेष्ठ है ।

४. तृणनिर्मित आसन, स्थान, जल और चौथी सत्यमय प्रिय वाणी; ये चार वस्तुएँ तो सज्जनों के घरों में कभी भी अनुपलब्ध नहीं रहतीं ।

५. जो मनुष्य कभी भी उद्दण्ड का सा वेष धारण नहीं करता, अन्यों के सामने अपने पराक्रम की डींगे नहीं मारता और क्रोध में बेसुध होकर किसी को कड़वे वचन नहीं कहता; उसे सब लोग अपना प्रिय बना लेते हैं ।

६. जो अपने आश्रितों में पहिले बांटकर तब स्वयं उचित मात्रा में भोजन करता है, खूब कर्म करके तब अल्प मात्रा में शयन करता है और मांगने पर शत्रुओं को भी देता है; उस आत्मतत्त्वशील मनस्वी मनुष्य को सारे अनर्थ-आपत्तियाँ दूर से ही त्याग देती हैं।

७. दूसरे के द्वारा गाली देने पर भी उसे गाली न दे । सहन करने वाले का अप्रयुक्त क्रोध ही उस गाली देने वाले को जला डालता है और गाली दाता के पुण्य को भी हर लेता है ।

८. रथादि वाहन, नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले मनुष्य, रोगी, भार उठाये हुए, स्त्री, स्नातक, राजा और वर (विवाहार्थ जाता हुआ या लौटता हुआ) इन सबके लिये पहिले मार्ग देवे ।

९. ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर् मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर् ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥
१०. मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण, विवादं न समाचरेत् ॥ (मनु. ४.१७९-१८०)
११. भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्, भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च, न कुर्यात् केनचित्सह ॥ (मनु. ४.१३९)
१२. मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्, प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव, नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ (मनु. ४.१४५)
१३. हीनाङ्गान्नतिरिक्ताङ्गान्, विद्याहीनान् वयोऽधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च, जातिहीनांश्च नाऽऽक्षिपेत् ॥ (मनु. ४.१४१)
१४. न विश्वसेदविश्वस्ते, विश्वस्ते नाऽतिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति ॥
(महाभा.शा.१३९.२९)
१५. मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो, विद्वांसमपि कर्षति ॥ (मनु. २.२१५)

९-१०. ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रित, बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य, ज्ञाति (चाचा आदि पितृपक्षीय), सम्बन्धी (साला तथा जंवाई आदि), बान्धव (नाना आदि मातृपक्षीय), माता, पिता, बहिन तथा पुत्रवधू, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री और भृत्यवर्ग इन सबके साथ वादविवाद न करे ।

११. वार्त्तालाप के समय 'भद्रं भद्रं' (अच्छा, अच्छा) ऐसे दो बार 'भद्र' पद का प्रयोग करे, अथवा एक बार ही 'भद्रम्' (अच्छा है) पद का प्रयोग करे । किसी के साथ निष्प्रयोजन व्यर्थ की शत्रुता न बांधे और वाद-विवाद भी न करे ।

१२. माङ्गलिक आचरण करे, अपने को वश में रखता हुआ जितेन्द्रिय बने, जप करे और निरालस होकर नित्य अग्निहोत्र करे ।

१३. शारीरिक अङ्गों में कमी वाले, अधिक अङ्गों वाले, विद्याहीन, अधिक आयु वाले, कुरूप, दरिद्र और छोटी जाति वाले; इन को न चिढ़ावे न निन्दा करे ।

१४. अविश्वसनीय पर विश्वास न करे, विश्वसनीय पर भी अति विश्वास न करे । विश्वास किये हुए मनुष्य से उत्पन्न भय विश्वासकर्त्ता की जड़ को ही काट देता है ।

१५. माता, बहिन अथवा पुत्री के साथ एकान्त स्थान में एक ही आसन पर न बैठे । क्योंकि अतीव बलवान् इन्द्रियाँ ज्ञानवान् मनुष्य को भी कुपथ पर खींच ले जाती हैं ।

माता, पिता

१. यं मातापितरौ क्लेशं, सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या, कर्त्तुं वर्षशतैरपि ॥ (मनु.२.२२७)

२. आस्तां तावदियं प्रसूतिसमये दुर्वारशूलव्यथा,
नैरुच्ये तनुशोषणं मलमयी शय्या च सांवत्सरी ।
एकस्यापि न कष्टभारभरण-क्लेशस्य यस्याः क्षमो
दातुं निष्कृतिमुन्नतोऽपि तनयस्तस्यै जनन्यै नमः ॥ ( )

३. अतोषयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः ।
मुहूर्त्तमपि नेच्छेयं, जीवितुं कुपिते नृपे ॥

४. यतो मूलं नरः पश्येत्, प्रादुर्भावमिहात्मनः ।
कथं तस्मिन्न वर्त्तेत, प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ (वाल्मी.अयो.१८.१५,१६)

---

१. सन्तानों को जन्म देने और उनके पालन करने में, माता पिता जितना कष्ट सहन करते हैं, उसका बदला सैंकड़ों वर्षों में भी नहीं चुकाया जा सकता ।

२. (अहा! माता के कितने उपकार हैं–) प्रसव के समय माता को जो दुर्वारणीय वेदनाभरी पीड़ा होती है, उसके वर्णन को तो रहने ही दो । गर्भावस्था में बहुत समय तक जब माता को खाने पीने में अरुचि हो जाती है, तब उसका शरीर सूख जाता है (क्योंकि गर्भ तो तब भी मातृशरीर से पोषण लेता ही रहता है) सन्तान को जन्म देने के बाद (कम से कम) एक वर्ष तक तो बालक के मलमूत्र से युक्त शय्या पर भी माता को सोना पड़ता है । सन्तान कितना भी बड़ा हो जाय, किन्तु जिस माता के (द्वारा झेले गये) भारी कष्टों की पीड़ाओं में से एक का भी बदला वह नहीं चुका सकता, उस माता को प्रणाम है ।

३. मेरे पिता महाराज (दशरथ) को बिना सन्तुष्ट किये और उनकी आज्ञा का बिना पालन किये तथा उनके क्रुद्ध रहते, मैं (राम) एक मुहूर्त्त भी जीवित रहना नहीं चाह सकता ।

४. मनुष्य जिसको अपने जन्म का मूल कारण समझे उस (पिता-माता रूपी) प्रत्यक्ष देवता के प्रति उत्तम व्यवहार क्यों न करे ।

५. अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥
(वाल्मी.अयो.१८.२८,२९)

६. न ह्यतो धर्मचरणं, किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा, तस्य च वचन-क्रिया ॥ (वाल्मी.अयो.१९.२२)

—

परिवार

१. ओ३म् सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

२. अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मात्रा भवतु सम्मनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं, वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥

३. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्, मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा, वाचं वदत भद्रया ॥

---

५. मैं (राम) राजा (दशरथ) की आज्ञा से अर्थात् अपने गौरवशाली तथा हितैषी पिता (दशरथ) द्वारा आज्ञा दिये जाने पर; अग्नि में कूद सकता हूँ, तीखा जहर खा सकता हूँ और समुद्र में भी कूद सकता हूँ ।

६. इससे बढ़कर बड़ा अन्य कोई धर्माचरण नहीं है, जैसा कि पिता-माता की सेवा करना और उनकी आज्ञा का पालन करना ।

—

१. हे गृहस्थो ! मैं तुम्हारे जीवन में समान हृदयता, प्रसन्न-मनस्कता और विद्वेष का अभाव (अत्यन्त प्रीति) स्थापित करता हूँ । तुम परस्पर एक-दूसरे को वैसे ही चाहो जैसे गौ नवजात बछड़े को चाहती है ।

२. पुत्र पिता के समान शुभ कर्मों को करने वाला और माता के समान प्रसन्न मन वाला बने । पत्नी पति के प्रति मीठे और शान्तिदायक वचन बोले ।

३. भाई भाई से द्वेष न करे और बहिन बहिन से द्वेष न करे । हे भाई बहिन आदि सदस्यो ! तुम सभी उत्तम प्रगति करने वाले तथा सत्कार करने वाले और समान गुणकर्म स्वभाव वाले होकर, माङ्गलिक रीति से शुभ वचन बोला करो ।

४. येन देवा न वियन्ति, नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे, संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

५. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट, सं राधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत, सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥

६. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

७. सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥
(अथर्व.३.३०.१-७)

८. सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ (मनु.३.६०)

---

४. हे पारिवारिक जनो ! जिस अन्न के सेवन से, जिस धन के उपार्जन से और जिस वेदज्ञान की प्राप्ति से दिव्य विद्वान् लोग एक दूसरे से मनमुटाव नहीं करते और आपस में द्वेष नहीं करते हैं; उसी प्रकार के अन्न, धन और उत्तम ज्ञान को हम लोग तुम्हारे परिवार में प्रतिष्ठित करते हैं ।

५. हे परिवारजनो ! आप लोग बुजुर्गों वाले तथा ज्ञान-सम्पन्न होकर उत्तम प्रयोजनों को सिद्ध करते हुए, परिवार की धुरा वहन करते हुए और प्रगति करते हुए आपस में एक दूसरे से कभी पृथक् मत होओ—मानसिक अलगाव मत रखो । एक दूसरे के प्रति सुन्दर (सत्य तथा मधुर) वाणी बोलते हुए एक दूसरे के पास आओ । मैं तुम्हें परस्पर का सहायक और ऐकमत्यवाला—सहमति वाला बनाता हूँ ।

६. तुम्हारा जलपान आदि का स्थान समान हो, तुम्हारा भोजन आदि समान हो । मैं तुम्हें यान वाहन आदि के समान उपकरणों में (उनकी प्राप्ति में) प्रेरित करता हूँ । तुम लोग सम्यक् प्राप्ति वाले संगठित होकर हवनादि के द्वारा अग्नि का वैसे ही सेवन करो जैसे रथचक्र की नाभि में चारों ओर से अरे संगठित रहते हैं ।

७. हे गृहस्थो ! मैं तुम्हारे शुभ-कर्म-सेवन रूपी माध्यम से तुम सबको एकसी पूजा वाला, उत्तम प्रसन्न मन वाला और एक ही ईश्वर को तत्परता से प्राप्त करने वाला बनाता हूँ । दिव्य विद्वानों के समान तुम मोक्षवृत्ति के रक्षक बनो । तुम लोगों में परस्पर सायं प्रातः सदा मानसिक श्रेष्ठ भाव बना रहे ।

८. जिस परिवार में पत्नी से पति सन्तुष्ट रहता है और वैसे ही पति से पत्नी सन्तुष्ट रहती है, उस परिवार में निश्चय ही कल्याण का वास होता है ।

९. कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति, ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ (मनु.३.६३)

१०. शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ (मनु.३.५७)

११. न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः ।
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः ॥ (वाल्मी.यु.१८.१५)

१२. मङ्गलाचारयुक्तानां, नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव, विनिपातो न विद्यते ॥ (मनु.४.१४६)

दम्पतीकर्त्तव्यम्

१. अन्योऽन्यस्याऽव्यभीचारो, भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन, ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥

२. तथा नित्यं यतेयातां, स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ, वियुक्तावितरेतरम् ॥ (मनु.९.१०१,१०२)

---

९. अनमेल विवाहों से, यज्ञ तथा षोडश संस्कार रूपी उत्तम क्रियाओं के लोप हो जाने से, वेदों के स्वाध्याय न करने से और विद्वानों के उपदेशों के विपरीत चलने से परिवार दुष्ट परिवार बन जाते हैं–बिगड़ जाते हैं ।

१०. जहाँ पत्नी, पुत्रवधू तथा बहिन आदि महिलाएँ शोकमग्न रहती हैं, वह परिवार शीघ्र विनष्ट हो जाता है । और जहाँ ये महिलाएँ शोक नहीं करतीं, वह परिवार सदा वृद्धि को प्राप्त होता है ।

११. हे प्रिय सुग्रीव ! सभी भाई भरत जैसे नहीं होते तथा पिता के सभी पुत्र मुझ (राम) जैसे नहीं होते और सभी मित्र आप जैसे नहीं होते ।

१२. माङ्गलिक आचरण वाले, सदा अपने आपको वश में रखने वाले, जप करने वाले और नित्य हवन करने वाले गृहस्थ आदि मनुष्यों का पतन नहीं होता । अनिष्ट नहीं होता ।

—

१. पति और पत्नी मरणपर्यन्त एक दूसरे के प्रति निष्ठावान् रहते हुए व्यभिचार से सर्वथा दूर रहें, यही स्त्री और पुरुष का संक्षेप में परम धर्म समझना चाहिये ।

२. कृत विवाह स्त्री पुरुष (पत्नी पति) सदा ऐसा प्रयत्न करें, कि कभी पृथक् पृथक् स्थानों पर रहना पड़े, तो भी व्यभिचार रूपी पाप न करें ।

—

पुत्रः

१. एवं च भाषते लोकश्चन्दनं किल शीतलम् ।
पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते ।। (पं.परी.२०)

२. यस्य न विपदि विषादः सम्पदि हर्षो रणे च भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ।। (पं.मिभे.११४)

३. गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससम्भ्रमाद् यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? (पं.कथा)

४. किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न बिद्वान्न भक्तिमान् ।। (पं. कथा.)

५. वरं वन्ध्या भार्या वरमृतुषु नैवाभिगमनम्,
वरं गर्भस्रावो वरमपि च गर्भेषु वसतिः ।
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता,
न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ।। (पं. कथा.)

---

१. लोग कहते हैं, कि चन्दनलेप बहुत ठंडक पहुँचाता है । पर वस्तुतः तो अपने पुत्र के शरीर का जो स्पर्श है, वह चन्दन से भी अधिक शीतलता प्रदान करता है ।

२. विपत्ति आने पर जो खिन्न नहीं होता, सम्पत्ति पाने पर जो फूल नहीं जाता और युद्ध में जो कायरता नहीं दिखाता; ऐसे त्रिलोकी के रत्न के समान विरले पुत्र को कोई अनोखी माता ही जन्म देती है ।

३. गुणीजनों की गणना के समय सबसे पहले जिसका नाम नहीं लिया जाता है, वैसे पुत्र के कारण भी यदि कोई स्त्री पुत्रवती कहलाती है, तो बताओ फिर बांझ स्त्री कैसी होती है ? अर्थात् पुत्र का गुणियों में उत्तम होना ही पुत्रत्व है ।

४. जो न ब्याती है और न दूध देती है, ऐसी गौ से क्या लाभ ? वैसे ही जो न विद्वान् हो और न भक्तिमान् हो, ऐसे पुत्र से भी क्या लाभ ?

५. पत्नी का बांझ रहना भी अच्छा है, ऋतुकाल में सहवास न करना भी अच्छा है, गर्भपात हो जाना भी ठीक है अथवा गर्भ का माँ की कोख में रह जाना भी ठीक है। जन्मने के बाद उस पुत्र का मर जाना भी अच्छा है अथवा कन्या का जन्म होना भी स्वीकार है; किन्तु मूर्ख पुत्र का होना कभी सह्य नहीं है, चाहे वह कितना ही रूपवान् और धनी क्यों न हो ।

—

गृहस्थाश्रमः

१. यथा वायुं समाश्रित्य, वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य, वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

२. यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

३. स सन्धार्यः प्रयत्नेन, स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं, योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ (मनु.३.७७-७९)

४. धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत, दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च ।
अनाददानश्च परैरदत्तं, सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ॥
(महाभा.आदि.९१.३)

५. वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥
(हि.स.८४)

---

१. जैसे वायु के सहारे सभी प्राणी जीवित रहते हैं, वैसे ही गृहस्थ के सहारे सभी अन्य आश्रमी स्व-स्व-कर्म में स्थिर रहते हैं ।

२. क्योंकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी ये तीनों आश्रम वाले ज्ञान और अन्नादि के दान के द्वारा प्रतिदिन गृहस्थ के द्वारा ही धारण किये जाते हैं, इसलिये गृहस्थ ज्येष्ठ आश्रम वाला है ।

३. उस गृहस्थाश्रम को, अक्षय मुक्ति सुख चाहने वाले और सांसारिक सुख की भी कामना करने वाले मनुष्य को सदा प्रयत्नपूर्वक धारण करना चाहिये, जो कि निर्बल इन्द्रियों वाले मनुष्य के द्वारा धारण करने योग्य नहीं है ।

४. धर्म से उपार्जित धन को प्राप्त करके सदा यज्ञ करे, दान देवे और अतिथियों को भोजन करावे और अन्य के द्वारा प्रेमपूर्वक न दिये हुए को कभी ग्रहण न करे । यही प्राचीन काल से चली आ रही गृहस्थ की उपनिषद् है ।

५. वन में रहने पर भी आसक्ति वाले मनुष्यों के जीवन में दोष उत्पन्न हो जाते हैं और घर (गृहस्थ) में रहते हुए भी यदि पांचों इन्द्रियाँ वश में हैं तो वह तपस्या है । जो निन्दा के अयोग्य (शुभ) कर्म में लगा रहता है, ऐसे आसक्तिरहित मनुष्य के लिये घर ही तपोवन है ।

विवाहः

१. कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
एतान् गुणान् सप्त विचिन्त्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥
(पं.का.२२०)

प्रातर्जागरणम्

१. ओ३म् प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति,
तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते ।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः ॥
(ऋ.१.१२५.१)

२. ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत, धर्मार्थौ चानु चिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्, वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

३. उत्थायाऽऽवश्यकं कृत्वा, कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्, स्वकाले चाऽपरां चिरम् ॥ (मनु.४.९२,९३)

---

१. कन्या के लिये वर ढूँढते समय – कुल, सदाचार, मातापिता आदि, शिक्षा, सम्पन्नता, शरीर और उचित आयु; इन सात गुणों को देखकर कन्या का विवाह कर देना चाहिये; शेष पर विचार न करें ।

—

१. प्रातःकाल शीघ्र उठकर, जो शुभ कर्मकारी मनुष्य प्रातः ही आनन्ददायक गुणों और पदार्थों को धारण करता है, उसे सर्वज्ञ ईश्वर अपनाकर परमानन्द में स्थापित करता है। इस कर्म से वह संस्कारी सन्तानों और दीर्घ आयु का विकास करता हुआ उत्तम वीरों वाला होकर ऐश्वर्यों की पुष्टि से युक्त हो जाता है ।

२. मनुष्य ब्राह्म मुहूर्त में (४.३० बजे प्रातः) जागे और धर्म तथा अर्थ का चिन्तन करे। साथ ही शारीरिक कष्टों के तथा उनके कारणों के विषय में और वेद के तात्त्विक अर्थों के विषय में भी विचार करे ।

३. मनुष्य प्रातः शीघ्र जागकर आवश्यक कार्य करके स्नानादि से शुद्ध होकर एकाग्रचित्त से बैठे । प्रातःकाल की सन्ध्यावेला में स्थिरता पूर्वक जप करे और सायंकालीन सन्ध्या समय में भी चिरकाल तक जप करे ।

—

पतिः

१. नाऽतन्त्री वाद्यते वीणा, नाऽचक्रो विद्यते रथः ।
नाऽपतिः सुखमेधेत, या स्यादपि शतात्मजा ॥

२. मितं ददाति हि पिता, मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं, भर्तारं का न पूजयेत् ॥
(वाल्मी.अ.३९.२९,३०)

३. साध्वीनां तु स्थितानां तु, शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं, पतिरेको विशिष्यते ॥
(वाल्मी.अ.३९.२४)

४. आर्यपुत्र! पिता माता, भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः, स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥
भर्त्तुर्भाग्यं तु नार्येका, प्राप्नोति पुरुषर्षभ ॥ (वाल्मी.अ.२७.४,५)

---

१. जैसे बिना तारों के वीणा बजाई नहीं जा सकती और बिना पहियों का रथ नहीं होता वैसे ही स्त्री भी बिना पति के सुख नहीं पाती, चाहे वह सौ पुत्रों वाली भी क्यों न हो।

२. स्त्री के लिये उसका पिता सीमित मात्रा में ही (धनादि) देता है और भाई तथा पुत्र भी सीमित मात्रा में ही देता है । असीमित मात्रा (प्रचुर मात्रा) में देने वाले पति की कौन स्त्री पूजा नहीं करेगी ?

३. सदाचार, सत्य, ज्ञान और मर्यादा में स्थिर रहने वाली साधुस्वभाव की स्त्रियों के लिये एक पति ही पवित्र और परम विशिष्ट है ।

४. हे पुरुषों में श्रेष्ठ पतिदेव (श्रीराम) ! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू ये सब अपने अपने पुण्यकर्मों के अनुसार अपने अपने भाग्य रूप फल को पाते हैं, किन्तु एकमात्र पत्नी ही अपने पति के भाग्य रूप फल को पाती है ।

—

पत्नी

१. **जायेदस्तम् (जाया इद् अस्तम्) ॥ (ऋ. ३.५३.४)**

२. **न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ॥**

३. **अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।**
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

४. **भार्यावन्तः क्रियावन्तः, सभार्या गृहमेधिनः ।**
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते, भार्यावन्तः श्रियान्विताः ॥

५. **सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।**
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः ॥

६. **कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याऽऽध्वनिकस्य च ।**
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद्दारा परा गतिः ॥
(महाभा.आदि.७४.४१-४४)

७. **सा भार्या या गृहे दक्षा, सा भार्या या प्रजावती ।**
सा भार्या या पतिप्राणा, सा भार्या या पतिव्रता ॥
(महाभा.आदि.७४.४०)

---

१. पत्नी ही असली घर है ।

२. घर, स्वयं में घर नहीं कहलाता अपितु पत्नी ही असली घर कहलाता है ।

३. पत्नी मनुष्य का अर्ध भाग है (अर्धाङ्गिनी है), पत्नी मनुष्य का सर्वोत्तम मित्र है । पत्नी धर्म, अर्थ और काम का आधार है और भवसागर के पार जाने वाले के लिये सहारा है ।

४. पत्नी वाले लोग ही सत्कर्मों के करने में सफल होते हैं, पत्नी वाले ही सच्चे गृहस्थ होते हैं । पत्नी वाले हर्षयुक्त रहते हैं और पत्नी वाले ही धन सम्पन्न बनते हैं ।

५. ये प्रियवचन बोलने वाली पत्नियाँ अकेलेपन में मनुष्य की सच्ची मित्र होती हैं । धार्मिक कृत्यों में पिता आदि के समान आगे बढ़कर भाग लेती हैं और मनुष्य के रुग्ण हो जाने पर माता के समान उसकी सेवा करती हैं ।

६. जङ्गलों में भी पथिक मनुष्य के लिये पत्नी विश्राम देने वाली होती है । जो पत्नी वाला होता है वही विश्वसनीय होता है, इसलिये पत्नी ही परम गति है ।

७. जो गृहकार्य में निपुण है वही पत्नी है, जो संस्कारवान् सन्तानों वाली है वही पत्नी है, जो पति को अपने प्राणों के समान चाहती है वही पत्नी है और जो पतिव्रत धर्म का पालन करती है वही पत्नी है ।

८. क्रियाणां खलु धर्म्याणां, सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥ (कुमार.)

९. न कार्येषु न भोगेषु, नैश्वर्ये न सुखे तथा ।
स्पृहा स्याच्च यथा भर्तुः सा नारी सुखभागिनी ॥ ( )

१०. अर्थस्य सङ्ग्रहे चैनां, व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च, परिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ (मनु.९.११)

११. सदा प्रहृष्टया भाव्यं, गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया, व्यये चाऽमुक्तहस्तया ॥ (मनु.५.१५०)

१२. पतिं या नाऽभिचरति, मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति, सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ (मनु.५.१६५)

१३. प्रमृष्टभाण्डा मृष्टान्ना, काले भोजनदायिनी ।
संयता गुप्तधान्या च, सुसम्मृष्टनिवेशना ॥

१४. अतिरस्कृतसम्भाषा, दुःस्त्रियो नानुसेवती ।
अनुकूलवती नित्यं, भवाम्यनलसा सदा ॥
(महाभा.वन.२३३.२६,२७)

---

८. उत्तम पत्नियाँ ही समस्त धार्मिक क्रियाओं का मूल आधार हैं ।

९. जिस स्त्री की न कार्यों में, न भोगों में, न ऐश्वर्य में और न ही सुख में वैसी लालसा हो जैसी कि अपने पति के प्रति; वही स्त्री सुख पाने वाली होती है ।

१०. पति अपनी पत्नी को धन के संभालने में, व्यय करने में, घर की पवित्रता के कार्य में, धार्मिक कृत्य में, भोजन पकाने में और गृह-उपकरणों के निरीक्षण करने में लगावे ।

११. पत्नी को सदा सुप्रसन्न रहना चाहिये और घर के कार्यों में निपुण, पात्र आदि साधनों को सुशुद्ध रखने वाली और खर्च करने में थोड़े कसे हुए हाथ वाली होना चाहिये ।

१२. जो पत्नी अपने मन, वाणी और शरीर को वश में रखकर, अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के साथ शरीर-सम्बन्ध नहीं रखती, वह अपने पति के प्राप्तव्य सभी सुखों को पाती है और सज्जनों के द्वारा 'साध्वी' कहलाती है ।

१३-१४. मैं (द्रौपदी) पात्रों को स्वच्छ रखने वाली, शुद्ध पवित्र भोजन बनाने वाली, पति आदि को समय पर भोजन कराने वाली, संयम रखने वाली, अन्न को सुरक्षित रखने वाली, निवास स्थान को धुला लिपा रखने वाली, कभी तिरस्कारयुक्त वचन न बोलने वाली, दुष्ट स्त्रियों का सङ्ग न करने वाली, अपने पति के अनुकूल आचरण करने वाली और आलस्य न करने वाली बनने का सदा प्रयत्न करती हूँ ।

१५. साध्वी शीलवती दयावसुमती, दाक्षिण्यलज्जावती,
तन्वी व्याजपराङ्मुखी स्मितवती, मुग्धा प्रियालापिनी ।
देवब्राह्मण-बन्धुसज्जनहिता, यस्यास्ति भार्या गृहे,
तस्यार्थागममोक्षभोगफलदा, सैकैव पुण्या लता ॥ ( )

१६. या तु भार्या शुचिर्दक्षा, भर्त्तारमनुगामिनी ।
नित्यं मधुरवक्त्री च, सा रमा न रमा रमा ॥ ( )

१७. या नारी सुव्रता दक्षा, विमलाऽमृतभाषिणी ।
सदाचारा पतिप्राणा, सा स्वर्गादतिरिच्यते ॥ ( )

१८. नित्यं स्नाता सुगन्धा च, नित्यं च प्रियवादिनी ।
अल्पभुङ् मितवक्त्री च, देवता सा न मानुषी ॥ ( )

१९. अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ, तद्भाषणे नम्रता,
तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम् ।

---

१५. जिस मनुष्य के घर में सज्जन स्वभाव वाली, सदाचारिणी, दयारूप धनवाली; समता, उच्चता और लज्जा को धारण करने वाली, सुन्दर शरीर वाली, बहाने न बनाने वाली, सदा मुस्कराने वाली, सरल-स्वभावा, प्रियवचन-वादिनी और विद्वज्जन, ब्राह्मण, बन्धु तथा सज्जनों का हित करने वाली पत्नी विराजमान है; उस मनुष्य को धनप्राप्ति, मोक्ष और अनेक भोग रूपी फलों को देने वाली वह एक पत्नी ही पुण्यकर्मों की बेल के समान है ।

१६. जो पत्नी पवित्र आचरण वाली, निपुण, पति के अनुसार चलने वाली और सदा मधुर वचन बोलने वाली है; वही असली 'रमा' (आनन्दित करने वाली स्त्री) है, प्रत्येक स्त्री-मात्र रमा नहीं कहलाती ।

१७. जों स्त्री (पत्नी) उत्तम सत्य आदि व्रतों वाली, निपुण; घर, शरीर तथा वस्त्रादि को निर्मल रखने वाली, अमृतमय मीठे वचन बोलने वाली, सदाचारिणी और अपने पति को अपने प्राण के समान प्रेम करने वाली है; वह स्वर्ग से भी बढ़कर है ।

१८. प्रतिदिन स्नान करने वाली, उत्तम गन्धों को धारण करने वाली, सदा प्रेम भरे वचन बोलने वाली, मित भोजन करने वाली और मित भाषण करने वाली स्त्री वास्तव में देवता (दिव्य-गुणधारिणी) असाधारण स्त्री है सामान्य स्त्री नहीं ।

१९. पत्नी द्वारा, अपने पति के घर पहुँचने पर उसके सत्कारार्थ खड़े होना, उससे बात करते समय नम्रता धारण करना, उसके चरणों पर दृष्टि रखते हुए उसे आसन पर बिठाना, और स्वयं उसकी सेवा करना, प्रतिदिन पति के सो जाने के पश्चात् स्वयं

सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति,
प्राच्यैः पुत्रि! निवेदितः कुलवधू-सिद्धान्त-धर्मागमः ॥ ( )

२०. न गृहाणि न वस्त्राणि, न प्राकारस्तिरस्क्रिया ।
नेदृशा राजसत्कारा, वृत्तमावरणं स्त्रियाः ॥ (वाल्मी.यु.११४.२७)

२१. महाकुलीनाभिरपापकाभिः,
स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च,
चौराश्च दुष्टाश्च चपलाश्च वर्ज्याः ॥ (महाभा.वन.२३४.११)

—

नारी

१. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥ (मनु.३.५६)

२. प्रजनार्थं महाभागाः, पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु, न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥

सोना और उसके जागने से पूर्व स्वयं शय्या से उठ जाना; हे पुत्रि ! प्राचीन ज्ञानियों ने ये उपरोक्त आचरण ही कुल-पत्नियों के लिये धर्मशास्त्र-सम्मत सिद्धान्त बताये हैं ।

२०. न तो भवन और न वस्त्र, न परकोटा और न चिक और न ही ऐसे राज-सम्मान, स्त्री की रक्षा हेतु परदे का काम कर सकते हैं । स्त्री के लिये असली परदा तो उसका चरित्र ही है ।

२१. द्रौपदी का सत्यभामा के प्रति उपदेश–हे सत्यभामा ! उत्तम कुल में उत्पन्न और पापकर्मों से सदा दूर रहने वाली साधु-स्वभावा स्त्रियों के साथ ही तुम्हारी मित्रता रहे। क्रोध करने वालीं, मद्यादि पीने वालीं, ठूंस ठूंसकर खाने वालीं, चोरी करने वालीं, दुष्ट स्वभाव वालीं और चञ्चल चरित्र वालीं स्त्रियाँ मित्रता-हेतु त्यागने योग्य हैं ।

—

१. जहाँ स्त्रियाँ पूजी जाती हैं–इनका सत्कार किया जाता है; वहाँ दिव्य गुण वाले आत्मा जन्म लेते हैं और जहाँ इनका सत्कार नहीं होता, वहाँ सारे कर्म निष्फल हो जाते हैं ।

२. उत्तम सन्तानों को जन्म देने हेतु जिनका निर्माण हुआ है, ऐसी महान् भाग्यशालिनी पूजनीया और घर की शोभा कहलाने वाली जो स्त्रियाँ हैं; वे ही असली लक्ष्मियाँ (सम्पत्तियाँ) हैं, स्त्रियों और लक्ष्मियों में कोई अन्तर नहीं है ।

३. उत्पादनमपत्यस्य, जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्राया:, प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥
४. अपत्यं धर्मकार्याणि, शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्ग:, पितृणामात्मनश्च ह ॥ (मनु.९.२६-२८)
५. पूजनीया महाभागा:, पुण्याश्च गृहदीप्तय: ।
स्त्रिय: श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषत: ॥
(महाभा.उ.३८.११)
६. पूज्या लालयितव्याश्च, स्त्रियो नित्यं जनाधिप ।
स्त्रियो यत्र हि पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता: ॥
७. अपूजिताश्च यत्रैता: सर्वास्तत्राऽफला: क्रिया: ।
तदा चैतत्कुलं नास्ति, यदा शोचन्ति जामय: ॥
(महाभा.अनु.४६.४,६)
८. न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणीहीनं, कान्तारादतिरिच्यते ॥ ( )
९. पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता:, पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च, बहुकल्याणमीप्सुभि: ॥ (मनु.३.५५)

---

३. सन्तान को जन्म देने, जन्मे हुए का पालन पोषण करने और दैनिक लोक-व्यवहार का स्त्री ही प्रत्यक्ष मुख्य आधार है ।

४. सन्तानों का निर्माण, धर्मकृत्य, सेवा और उत्तमरति तथा अपना और पिता आदि का विशेष सुख, ये सब स्त्री के ही ऊपर निर्भर हैं ।

५. पूजायोग्या, अतिभाग्यशालिनी, पुण्य कर्म वालीं और गृह की शोभा बढ़ाने वालीं स्त्रियों को ही घर की लक्ष्मी कहा गया है । अत: इनकी विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये ।

६. हे राजन् ! स्त्रियों का सदा सत्कार करना चाहिये और इन्हें लाड़ से रखना चाहिये । जहाँ स्त्रियों का सत्कार किया जाता है, वहाँ दिव्य-गुण-सम्पन्न आत्मा जन्म लेते हैं।

७. और जहाँ स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल होती हैं । तथा परिवार तब नष्ट हो जाता है जबकि वहाँ पत्नी, बहू आदि स्त्रियाँ शोकमग्न रहती हैं ।

८. भवन को घर नहीं कहते हैं, अपितु गृहिणी (गृहनारी) ही घर कहलाता है । जो घर गृहिणी से विहीन है, वह तो जङ्गल से भी बढ़कर सूना है ।

९. अत्यन्त कल्याण चाहने वाले पिता, भाई, पति तथा देवर आदि के द्वारा इन नारियों का सत्कार किया जाना चाहिये और वस्त्राभूषणादि से इन्हें सुशोभित रखना चाहिये।

१०. तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं, सत्कारेषूत्सवेषु च ।। (मनु.३.५९)

११. स्त्रियां तु रोचमानायां, सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां, सर्वमेव न रोचते ।। (मनु.३.६२)

१२. शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ।। (मनु.३.५७)

—

अतिथिः

१. **अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय ।**
यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ।। (अथर्व.९.६(३).८)

२. **इष्टं च वा एष पूर्त्तं च., पयश्च वा एष रसं च.,**
ऊर्जां च वा एष स्फातिं च., प्रजां च वा एष पशूंश्च.
कीर्त्तिं च वा एष यशश्च., श्रियं च वा एष संविदं च
गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।। (अथर्व.९.६(३).१-६)

---

१०. अतएव, ऐश्वर्य के इच्छुक मनुष्यों को नित्य तथा विशेष करके सत्कार के प्रसङ्गों में और उत्सवों में; इन नारियों का उत्तम आभूषण, वस्त्र और भोजनादि से सत्कार करना चाहिये ।

११. स्त्री (गृहिणी) के सुशोभित और प्रसन्न रहने पर सारा परिवार ही सुशोभित लगता है और उसके अशोभित तथा अप्रसन्न रहने पर, सभी कुछ अरुचिकर लगता है ।

१२. जहाँ नारियाँ शोकमग्न रहती हैं, वह परिवार शीघ्र विनष्ट हो जाता है और जहाँ ये शोक नहीं करतीं, वह परिवार सदा वृद्धि को प्राप्त होता है ।

—

१. अतिथि को भोजन कराने के पश्चात् गृहपति आदि को भोजन करना चाहिये, (ऐसा करना) यज्ञ की सफलता के लिये और यज्ञ की निरन्तरता के लिये आवश्यक है क्योंकि अतिथि-सेवा एक व्रत (अनिवार्य शुभ कर्म) है ।

२. जो मनुष्य अतिथि को भोजन कराने से पूर्व स्वयं भोजन करता है, वह मानो अपने घर के इष्ट और पूर्त्त को, दूध और रस को, बलपराक्रम और वृद्धि को, प्रजा और पशुओं को, प्रसिद्धि और यश को, तथा लक्ष्मी और प्रतिष्ठा को खा जाता है—समाप्त कर देता है ।

३. बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः।
तस्य पूजा विधातव्या, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ (हि.मि.१०७)

४. उत्तमस्यापि वर्णस्य, नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं, सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ (हि.मि.६३)

५. आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद् वसेद् गेहे, शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः (मनु.४.२९)

६. सम्प्राप्ताय त्वतिथये, प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति, सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ (मनु.३.९९)

७. तृणानि भूमिरुदकं, वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ (मनु.३.१०१)

८. अप्रणोद्योऽतिथिः सायं, सूर्योढो गृहमेधिना ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा, नास्याऽनश्नन् गृहे वसेत् ॥

९. न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं, स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥ (मनु.३.१०५,१०६)

---

३. चाहे बालक हो, चाहे बूढ़ा हो और चाहे युवक हो, जो भी घर में (अतिथि रूप में) आया हो; उसका सत्कार करना चाहिये, क्योंकि घर पर आया हुआ अतिथि सभी के लिये गुरु के समान है ।

४. उत्तम वर्ण वाले मनुष्य के भी घर पर निम्न वर्ण का भी व्यक्ति (अतिथि रूप में) आ जाय, तो उसका भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिये, क्योंकि अतिथि सर्वदिव्यगुणों से युक्त माना गया है ।

५. गृहस्थ के घर में आया हुआ कोई भी अतिथि; गृहस्थ की शक्ति के अनुसार, आसन, भोजन, बिस्तर, जल, कन्द और फल आदि द्वारा बिना सत्कार किया हुआ न रहने पावे ।

६. आये हुए अतिथि का विधिपूर्वक सत्कार करके उसके लिये आसन, जल और यथाशक्ति भोजन प्रदान करे ।

७. (भोजनादि कदाचित् घर में न हो तो) तृण (कुशासन आदि), स्थान, जल और चौथी सत्य मधुर वाणी, ये चार वस्तुएँ तो सज्जनों के घर में (अतिथि आदि के लिये) कभी अनुपलब्ध नहीं रहतीं ।

८. गृहस्थ को चाहिये कि वह सूर्य छिपने के पश्चात् सायंकाल, अपने घर पर आये हुए अतिथि को वापिस न लौटावे । समय पर अथवा असमय पर भी आया हुआ अतिथि, गृहस्थ के घर में बिना भोजन किये न रहने पावे ।

९. जिस वस्तु को अतिथि को न खिला सके उसे स्वयं भी न खावे । अतिथि का सत्कार करना धन, कीर्त्ति, आयु और दिव्य सुख को देने वाला है ।

१०. वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान् गृहमेधिनः ।
पूजयेद्धव्यकव्येन, विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ (मनु.४.३१)

११. अतिथिर्यस्य भग्नाशो, गृहात्प्रति निवर्त्तते ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै, पुण्यमादाय गच्छति ॥ (महाभा.शा.१९१.१२)

१२. भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु सदा सदा ।
अमृतं केवलं भुङ्क्त, इति विद्धि युधिष्ठिर ॥ (महाभा.शा.२२१.१३)

१३. सुवासिनीः कुमारीश्च, रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्, भोजयेदविचारयन् ॥ (मनु.३.११)

१४. आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ (मनु.३.१०७)

१५. पाखण्डिनो विकर्मस्थान्, वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च, वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ (मनु.४.३०)

---

१०. वेदज्ञाता, शास्त्रज्ञ, अहिंसा-सत्यादि व्रतों के पालक, वेदपाठी और उत्तम गृहस्थों का हव्य अर्थात् होमाहुति से अवशिष्ट मोहनभोग आदि से और कव्य अर्थात् अन्य भोजन सामग्री से सत्कार करे और उपर्युक्त योग्यताओं से रहित मनुष्यों का वैसा सत्कार न करे ।

११. जिस गृहस्थ के घर से, आया हुआ अतिथि बिना भोजनादि की आशा पूरी किये खाली लौट जाता है; वह अतिथि उस गृहस्थ को अपने दुष्कर्म देकर और उस गृहस्थ के सत्कर्म लेकर चला जाता है ।

१२. जो मनुष्य नित्य ही अपने सेवकों और अतिथियों के भोजन कर लेने के पश्चात् स्वयं भोजन करता है; हे युधिष्ठिर ! ऐसा समझो कि वह मनुष्य केवल अमृत का ही सेवन करता है ।

१३. जिनका अभी विवाह हुआ है ऐसी युवतियों को, कुंवारी कन्याओं को, रोगियों को और गर्भवती स्त्रियों को (आवश्यकता हो तो) बिना विचारे ही, अतिथियों से पूर्व ही भोजन करा देना चाहिये ।

१४. आसन, निवासस्थान, शय्या, अनुगमन और उनके समीप उपस्थिति ये पदार्थ; उत्तम अतिथियों के लिये उत्तम, निम्न स्तर वालों के लिये निम्न कोटि के और अपने स्तर के या मध्यम कोटि वालों के लिये उनके स्तर के अनुसार देने चाहियें ।

१५. पाखण्डियों, उलटे कर्मों में लगे हुओं, बिलाव की सी वृत्ति वालों, धूर्त्तों, कुतर्क करने वालों और बगुला भक्तों–आडम्बर करने वालों का, तो वाणी से भी सत्कार न करे ।

१६. अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ( )

१७. परिचरितव्याः सन्तो, यद्यपि न कथयन्ति सदुपदेशम् ।
यास्त्वेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि ॥ (हि.मि.११७)

—

दानम्

१. दानधर्मं निषेवेत, नित्यमैष्टिक-पौर्त्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन, पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ (मनु.४.२२७)

२. दातव्यमिति यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

३. यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं, तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥

---

१६. घर पर आये हुए तो शत्रु का भी यथोचित अतिथि-सत्कार करना चाहिये । वृक्ष को देखो, वह अपनी फैली हुई छाया को अपने ही को काटने वाले के भी ऊपर से नहीं हटाता ।

१७. सत्पुरुषों की अवश्य सेवा करनी चाहिये, भले ही वे कोई 'उपदेश' न दें । जो इनका स्वाभाविक वार्त्तालाप है, वह भी शास्त्र के समान गुणकारक है ।

—

१. गृहस्थ सदा सन्तुष्ट भाव से इष्ट अर्थात् यज्ञादि कार्यों के लिये और पूर्त्त अर्थात् कूप, तडागादि सार्वजनिक कार्यों के लिये स्वसामर्थ्यानुसार सत्पात्र को दान देवे ।

२. दान देना मेरा कर्त्तव्य है, ऐसा विचार करके और देश, काल तथा पात्र का विवेक करके जिसने कभी उसका उपकार न किया हो, ऐसे मनुष्य को जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहा गया है ।

३. जो उपकार के बदले में दिया जाय, किसी फंल (स्वकार्य सिद्धि) को लक्ष्य में रखकर दिया जाय अथवा जो क्लेशपूर्वक दिया जाय, वह दान राजस दान माना गया है ।

४. अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ (महाभा.भी. ४१.२० -२२)

५. साङ्गांश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः ।
षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥ (महाभा.अनु.२२.३६)

६. अक्रोधना धर्मपराः, सत्यनित्या दमे रताः ।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥

७. अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥

८. अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः ।
स्वकर्मनिरता ये च, तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ (महाभा.अनु.२२.३३-३५)

९. दरिद्रान् भर कौन्तेय, मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधैः ॥ (महाभा.)

१०. सर्वेषामेव दानानां, ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ (मनु.४.२३३)

---

४. बिना देश और काल का विचार किये जो कुपात्रों को दिया जाता है तथा पात्रों को भी उनका बिना सत्कार किये अथवा उनका अपमान करके जो दान दिया जाता है, वह तामस दान माना गया है ।

५. जो द्विज–अङ्गों सहित चारों वेदों का अध्ययन करता है और अध्ययन अध्यापन आदि छः कर्मों में लगा रहता है, उसे ही ऋषियों ने दान का पात्र कहा है ।

६. जो क्रोध न करने वाले, धर्म-परायण, सदा सत्य व्यवहार करने वाले, और अपने मन को वश में रखने में तल्लीन हैं; ऐसे सज्जन स्वभाव वाले ज्ञानियों को दिया गया दान महान् फलदायक होता है ।

७. निरभिमानी, सबको सहन करने वाले, दृढ़ लक्ष्य वाले, जितेन्द्रिय, सब प्राणियों का हित करने वाले और सबके प्रति मित्र भाव रखने वाले मनुष्यों को दिया गया दान महान् फलकारक होता है ।

८. निर्लोभी, पवित्र, दयापूर्वक चिकित्सा करने वाले, लज्जाशील, सत्य के बोलने वाले और अपने निर्धारित कर्म में तल्लीन मनुष्यों को दिया गया दान महान् फलदायक होता है ।

९. हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! दरिद्रों का भरण पोषण कर, जो धनवान् हैं उन्हें धन देने की आवश्यकता नहीं है । रुग्ण मनुष्य के लिये औषध हितकारक है, स्वस्थ मनुष्य को औषधों से क्या प्रयोजन ?

१०. जल, भोजन, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना और घृत आदि सभी दानों से बढ़कर विद्या का दान है ।

११. मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः, क्षुधार्त्ते भोजनं तथा ।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ।। (महाभा.)

१२. सङ्ग्रहैकपरः प्रायः समुद्रोऽपि रसातले ।
दातारं जलदं पश्य गर्जन्तं भुवनोपरि ।। (भोज.६५)

१३. दानेन प्राप्यते स्वर्गः, श्रीर्दानेनैव लभ्यते ।
दानेन शत्रून् जयति, व्याधिर्दानेन नश्यति ।। ( )

१४. दानेन लभ्यते विद्या, पत्नी दानेन प्राप्यते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां दानं हि साधनं परम् ।। ( )

—

धनम्

१. यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ।।
(नीति.४१)

---

११. जैसे रेगिस्तान में हुई वर्षा अतिप्रसन्नता का कारण होती है, वैसे ही भूखे को भोजन कराना अतिप्रसन्नता-कारक है । हे पाण्डुपुत्र ! दरिद्र को दिया गया दान ही सच्चे अर्थों में सफल होता है ।

१२. संग्रह मात्र में लगा हुआ सागर भी सदा रसातल में ही पड़ा रहता है; उधर सबको जल देने वाले दाता बादल को देखो, जो कि संसार के ऊपर गरजता रहता है ।

१३. दान से स्वर्ग प्राप्त होता है और लक्ष्मी भी दान से ही मिलती है । दान के द्वारा मनुष्य शत्रुओं को जीत लेता है और दान से रोग नष्ट हो जाता है ।

१४. दान से विद्या प्राप्त होती है और दान से सुपत्नी प्राप्त होती है । दान ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम साधन है ।

—

१. जिसके पास धन है वही मनुष्य उत्तम कुल वाला, वही पण्डित, ज्ञानी, गुणों का ज्ञाता, उत्तम भाषणकर्त्ता और दर्शनीय माना जाता है । इस प्रकार प्रायः संसार में सारे गुण धन के सहारे ही आंके जाते हैं ।

२. अर्थेन तु विहीनस्य, पुरुषस्याल्पमेधसः ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति, ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ (हि.मि.१२४)

३. यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके, यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥ (हि.मि.१२५)

४. वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं, द्रुमालयं पक्वफलाम्बुभोजनम् ।
तृणानि शय्या परिधानवल्कलं, न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥
(हि.मि.१५१)

५. अर्थसिद्धिं परामिच्छन्, धर्ममेवाऽऽदितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः, स्वर्गलोकादिवाऽमृतम् ॥ (महाभा.उ.३७.४८)

६. येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान् ।
धर्मं वै शाश्वतं लोके, न जह्याद्धनकांक्षया ॥ (महाभा.शा.२९२.१९)

७. न्यायाऽऽगतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम् ।
संरक्ष्यं यत्नमास्थाय, धर्मार्थमिति निश्चयः ॥ (महाभा.शा.२९२.४)

८. न सङ्करेण द्रविणं, प्रचिन्वीयाद् विचक्षणः ।
धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य, न तत् कल्याणमुच्यते ॥ (महाभा.शा.२९४.२५)

---

२. धन से रहित और कम बुद्धि वाले मनुष्य के सब कर्म वैसे ही विनष्ट हो जाते हैं, जैसे छोटी नदियाँ ग्रीष्मकाल में विलुप्त हो जाती हैं ।

३. जिसके पास धन हैं उसी के मित्र बनते हैं, जिसके पास धन हैं उसी के पास बन्धु बान्धव आते हैं । जिसके पास धन हैं वही संसार में पुरुष कहलाता है और धन वाला ही पण्डित कहलाता है ।

४. बाघ तथा हाथियों से युक्त जङ्गल में रहना और वहाँ वृक्षावली को अपना घर बनाना, पके हुए फलों और जल का ही भोजन करना, घास पर सोना और वृक्ष की छाल से शरीर ढकना अच्छा है, किन्तु बन्धु बान्धवों के बीच में धनहीन जीवन व्यतीत करना अच्छा नहीं है ।

५. बढ़िया धनलाभ की कामना करता हुआ मनुष्य, आरम्भ से ही धर्म का आचरण करे, क्योंकि धर्म से धन वैसे ही पृथक् नहीं हो सकता, जैसे मोक्ष से अमृतत्व (मृत्यु का अभाव) ।

६. जो धन सम्पत्तियाँ धर्म से प्राप्त हो सकती हैं वे ही सच्ची हैं, जो अधर्म से प्राप्त हों उन धनसम्पत्तियों को धिक्कार है । धर्म संसार में नित्य रहने वाला है, उसे मनुष्य धन की लालसा से न त्यागे ।

७. न्याय से प्राप्त और न्याय से ही बढ़ाये गये धन की पूरे यत्न से रक्षा करनी चाहिये । वह धन धर्म रूपी प्रयोजन को सिद्ध करने वाला है यह निश्चित है ।

८. बुद्धिमान् मनुष्य धर्मयुक्त न्याय को त्यागकर जिस किसी प्रकार से धन का सङ्ग्रह न करे । ऐसा धन कल्याण-कारक नहीं कहा जाता ।

९. दानं भोगो नाशस्तिस्रो, गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ (नीति.४३)

१०. उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं, क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च, लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥
(हि.मि.१७४)

११. मङ्गलालम्भनं योगः, श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति, सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ (महाभा.उ.३९.५६)

१२. अलब्धं चैव लिप्सेत, लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेत् सम्यग्, वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ (हि.सु.८)

१३. हर्षशोकौ समौ यस्य, शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ।
नित्यं भृत्यानुपेक्षा च, तस्य स्याद्धनदा धरा ॥ (हि.वि.१३२)

१४. न साहसैकान्तरसानुवर्त्तिना, न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता नये च शौर्ये च वसन्ति सम्पदः ॥
(हि.वि.११६)

---

९. दान, भोग और नष्ट हो जाना, ये तीन धन की गतियाँ हैं । जो धन का न दान करता है और न उसे खाने पीने आदि में खर्च करता है, उसके धन की तीसरी गति (नाश) होती है ।

१०. उत्साह से भरे हुए, सुस्ती से धीरे-धीरे काम न करने वाले (फुर्ती से काम करने वाले), क्रिया की विधि के ज्ञाता, व्यसनों में आसक्त न रहने वाले, पराक्रमी, किये उपकार को मानने वाले और पक्की मित्रता निभाने वाले मनुष्य के पास सम्पत्ति स्वयं निवास के लिये पहुंच जाती है ।

११. माङ्गलिक पदार्थों का सम्पर्क, कर्म-कुशलता, शास्त्र-ज्ञान, जागरूकता, सरलता और सत्पुरुषों का निरन्तर सङ्ग; ये बातें ऐश्वर्य को बढ़ाने वाली हैं ।

१२. अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करे, प्राप्त वस्तु की देखभाल के द्वारा रक्षा करे, रक्षित पदार्थ को भली प्रकार बढ़ावे और बढ़े हुए को सत्कार्यों में लगावे और संत्पात्रों में दान करे ।

१३. जिसके लिये हर्ष और शोक समान हैं, जिसका शास्त्र के अर्थ में विश्वास है और जो अपने सेवकों की उपेक्षा नहीं करता, ऐसे मनुष्य के लिये यह पृथिवी धन देने वाली है।

१४. न तो एकमात्र साहस का ही सहारा लेने वाले के द्वारा और न ही अनेक उपायों के करने में ही जिसने अपने आप को परेशान कर लिया है उसके द्वारा ही; उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त किया जाना सम्भव है । वास्तव में तो सम्पत्तियाँ नीति और पराक्रम इन दोनों में ही वास करती हैं ।

१५. शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं, प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता ।
उत्साहो वाग्मिता दार्ढ्यमापत्क्लेशसहिष्णुता ॥
१६. प्रभावः शुचिता मैत्री, त्यागः सत्यं कृतज्ञता ।
कुलं शीलं दमश्चेति, गुणाः सम्पत्तिहेतवः ॥ (कामन्द.१.२१,२२)
१७. सन्नियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन् ! यश्चापत्सु न मुह्यति ॥ (महाभा.उ.३७.५१)
१८. धृतिः शमो दमः शौचं, कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चाऽनभिद्रोहः, सप्तैताः समिधः श्रियः ॥ (महाभा.उ.३८.३८)
१९. अनिर्वेदः श्रियो मूलं, लाभस्य च शुभस्य च ।
महान् भवत्यनिर्विण्णः, सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ (महाभा.उ.३९.५७)
२०. वृद्धिः प्रभावः तेजश्च, सत्त्वमुत्थानमेव च ।
व्यवसायश्च यस्य स्यात्, तस्याऽवृत्तिभयं कुतः ॥ (महाभा.उ.३७.४१)
२१. मूलमर्थस्य संरक्ष्यमेष कार्यविदां नयः ।
मूले हि सति सिध्यन्ति, गुणाः सर्वे फलोदयाः ॥ (वाल्मी.६५.२५)

१५-१६. शास्त्र-ज्ञान, उत्तम बुद्धि, धैर्य, निपुणता, किसी के दबाव में न आना तथा अपने विषय की पक्की जानकारी, निभाने की वृत्ति, उत्साह, वाणी का चातुर्य, दृढ़ता, आपत्ति और कष्ट को सहने का स्वभाव, प्रभाव, पवित्रता, मैत्री, त्याग, सत्य, दूसरे के द्वारा किये गये उपकार को मानना, कुलीनता, सदाचार और मन को वश में रखना ये उन्नीस गुण सम्पत्ति की प्राप्ति के मुख्य कारण हैं ।

१७. हे राजन् ! जो क्रोध और हर्ष के उत्पन्न हुए वेग को अच्छी प्रकार वश में कर लेता है और आपत्तियों में किंकर्त्तव्यविमूढ नहीं होता, वह मनुष्य लक्ष्मी का पात्र है ।

१८. धैर्य, शान्ति, मन का दमन, पवित्रता, करुणा, कोमल वाणी और मित्रों के प्रति द्रोह न करना, ये सात गुण लक्ष्मी रूपी ज्योति को प्रदीप्त करने वाली समिधाएँ हैं ।

१९. अपने आरम्भ किये कार्य से विरक्त न होना–उद्योग में लगे रहना, यही धन सम्पत्ति का, लाभ का और कल्याण का मुख्य आधार है । विरक्त न होने वाला–उद्योगी मनुष्य महान् बनता है और अत्यन्त सुख को पाता है ।

२०. जिसके पास बढ़ने की भावना, प्रभाव, तेज, बलपराक्रम, उद्यम, और दृढ़ निश्चय हैं; उसको आजीविका के नाश का भय कहाँ से हो सकता है ?

२१. सम्पत्ति के मूलधन की अच्छी प्रकार से रक्षा करनी चाहिये, यही कार्यकुशल ज्ञानियों की नीति है । क्योंकि मूल के सुरक्षित रहने पर ही, अन्य सभी फलदायक गुण सिद्ध होते हैं ।

२२. आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ (महाभा.उ.३९.५४)

२३. अपनीतं सुनीतेन, योऽर्थं प्रत्यानिनीषते ।
मतिमास्थाय सुदृढां, तदकापुरुषव्रतम् ॥ (महाभा.उ.३९.५३)

२४. दुःखार्त्तेषु, प्रमत्तेषु, नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु, ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ (महाभा.उ.३९.६१)

२५. अतिव्ययोऽनपेक्षा च, तथाऽर्जनमधर्मतः ।
पोषणं दूरसंस्थानां, कोशव्यसनमुच्यते ॥ (हि.सु.९४)

२६. दारिद्र्यादि्भ्रयमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात् परिभ्रश्यते,
निःसत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते,
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ (हि.मि.१३४)

२७. क्षिप्रमायमनालोच्य, व्ययमानः स्ववाञ्छया ।
परिक्षीयत एवासौ, धनी वैश्रवणोपमः ॥ (हि.सु.९५)

---

२२. जो भविष्य में आने वाली आपत्ति के प्रतीकार को जानने वाला है, वर्त्तमान काल के कर्म में दृढ़ निश्चयी है और जो अतीत काल के अवशिष्ट कर्त्तव्य को भी जानता है, वह धन सम्पत्तियों से रहित नहीं होता ।

२३. अन्याय से नष्ट हुए धन को जो दृढ़ निश्चय वाली बुद्धि के आश्रय से न्याय मार्ग के द्वारा वापिस लौटाना चाहता है; ऐसा यह वीर पुरुषों का ही आचरण सम्भव है ।

२४. दुःख से परेशान, प्रमादी तथा नशाखोर, नास्तिक, आलसी, मन आदि को वश में न रखने वाले और उत्साहहीन मनुष्यों के पास लक्ष्मी निवास नहीं करती है ।

२५. अधिक व्यय करना, लापरवाही, अधर्म से धन कमाना और दूरदेश-स्थित लोगों का पालन करना; ये धन-कोश के नाश के कारण हैं ।

२६. गरीबी से मनुष्य लज्जा को प्राप्त होता है, लज्जा में गड़ा हुआ मनुष्य स्वाभिमान से हीन हो जाता है, स्वाभिमान-रहित मनुष्य अनादर को प्राप्त होता है, अनादर से मनुष्य खिन्नता को प्राप्त होता है, खिन्न हुआ शोक-मग्न हो जाता है, शोक-मग्न को बुद्धि त्याग देती है और निर्बुद्धि मनुष्य नाश को प्राप्त होता है । अहो ! निर्धनता सब आपत्तियों का मूल कारण है ।

२७. शीघ्र ही अन्य आय होने की कोई सम्भावना है कि नहीं, इस बात को बिना विचारे मनमर्जी खर्च करने वाला मनुष्य अवश्य ही धनहीन हो जाता है; भले ही वह कुबेर के समान धनाढ्य क्यों न हो ।

२८. तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ (नीति. ४०)

—

लोभत्यागः

१. लोभः प्रतिंष्ठा पापस्य, प्रसूतिर्लोभ एव च ।
द्वेषक्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम् ॥

२. लोभात् क्रोधः प्रभवति क्रोधाद् द्रोहः प्रवर्त्तते ।
द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः ॥

३. मातरं पितरं पुत्रं, भ्रातरं वा सुहृत्तमम् ।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम् ॥ (भोज. १-३)

४. लोभेन बुद्धिश्चलति, लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति, परत्रेह च मानवः ॥ (हि.मि. १४०)

---

२८. वही सामर्थ्य-युक्त इन्द्रियाँ हैं और वही नाम है, वही अबाध चिन्तन वाली बुद्धि है, वही वह वचन है और धन रूपी उष्णता से रहित पुरुष भी वही है, किन्तु धन चले जाने के कारण क्षण भर में सब कुछ बदला हुआ लगता है; यह कितने आश्चर्य की बात है।

—

१. लोभ पाप को स्थिर करने वाला है और लोभ ही पाप को उत्पन्न करने वाला है । लोभ ही द्वेष क्रोध आदि का जनक है और इस प्रकार लोभ ही पाप का मूल कारण है ।

२. लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से द्रोह जन्मता है और द्रोह के कारण तो अति बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञाता मनुष्य भी महादुःख को प्राप्त करता है ।

३. लोभ से अभिभूत मनुष्य माता, पिता, पुत्र, भाई, उत्तम मित्र और अपने जीविका-दाता इनको तथा अपने सगे भाई को भी मार देता है ।

४. लोभ से बुद्धि चञ्चल हो जाती है और लोभ तृष्णा को उत्पन्न करता है । तृष्णा से युक्त मनुष्य इस जन्म में तथा परजन्म में भी दुःख को प्राप्त करता है ।

५. लोभात्क्रोधः प्रभवति, लोभात् कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च, लोभः पापस्य कारण् ॥ (हि.मि.२७)

६. सुमहान्त्यपि शास्त्राणि, धारयन्तो बहुश्रुताः ।
छेत्तारः संशयानां च, क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥ (हि.मि.२६)

७. यशो यशस्विनां शुद्धं, श्लाध्या ये गुणिनां गुणाः ।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति, श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥
(भाग.११.१३.१६)

८. अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा ।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्त्तते ॥
(महाभा.शा.१६३.२१)

—

वानप्रस्थः

१. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्, वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं, तदारण्यं समाश्रयेत् ॥

२. सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं, सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य, वनं गच्छेत् सहैव वा ॥

---

५. लोभ से क्रोध उत्पन्न होता और लोभ से काम भी उत्पन्न होता है । लोभ से मोह जन्मता है (और अन्ततः लोभी का) नाश हो जाता है । अतः लोभ ही पाप का कारण है ।

६. बड़े-बड़े शास्त्रों को धारण करने वाले, महाज्ञानी और सन्देहों का निराकरण करने वाले विद्वान् मनुष्य भी, लोभ के वशीभूत होने पर अति कष्ट पाते हैं ।

७. यशस्वी जनों के शुद्ध यश को और गुणी जनों के प्रशंसनीय गुणों को थोड़ा-सा भी लोभ वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे कोढ़ अभीष्ट सुन्दर रूप को ।

८. यह देखा जाता है, कि प्राणियों में जो लोभ है, वह सदा अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है । सांसारिक भोगों की अस्थिरता को देखने और अच्छी प्रकार जान लेने पर लोभ की निवृत्ति हो जाती है ।

—

१. गृहस्थ जब अपने केशों को सफेद हुआ देखे और जब सन्तान के भी सन्तान हो जावे, तब वह जङ्गल का आश्रय ग्रहण करे—वनस्थ हो जावे ।

२. ग्राम में सुलभ भोजन को और सब प्रकार की सुखसामग्री को त्याग कर तथा पत्नी को अपने पुत्रों को सौंपकर वन में जावे (किन्तु यदि ऐसी व्यवस्था सम्भव न हो अथवा पत्नी भी तपस्या की इच्छुक हो तो) अथवा पत्नी के साथ ही वन को प्रस्थान करे ।

३. अग्निहोत्रं समादाय, गृह्यं चाग्नि-परिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य, निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥

४. मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः, शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद् विधिपूर्वकम् ॥ (मनु.६.२-५)

५. स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्, दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता, सर्वभूतानुकम्पकः ॥ (मनु.६.८)

६. स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो, दाता परेभ्यो न परोपतापी ।
तादृङ् मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां, वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः ॥
(महाभा.आदि.९१.४)

७. न ग्राम्यमुपयुञ्जीत, य आरण्यो मुनिर्भवेत् ।
तथाऽस्य वसतोऽरण्ये, ग्रामो भवति पृष्ठतः ॥

---

३. अग्निहोत्र के व्रत को और अग्निहोत्र के (स्रुवा, घृतपात्र आदि) गृहस्थित उपकरणों को साथ लेकर, ग्राम से निकल कर वन में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ।

४. अनेक प्रकार के पवित्र तथा बुद्धिवर्धक सांवा आदि मुनियोग्य अन्नों से अथवा शाक-कन्द-फलादि से पूर्वोक्त महायज्ञों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करे ।

५. वानप्रस्थ सदा स्वाध्याय में लगा रहे; तथा वह मन आदि को दमन करने वाला, सबसे मित्र-भाव रखने वाला, एकाग्र, दान देने वाला, कभी न लेने वाला और सब प्राणियों पर दया करने वाला बने ।

६. अपने सामर्थ्य से ही जीविका करने वाला, पाप से दूर हटा हुआ, दूसरों को देने वाला, अन्यों को दुःखी न करने वाला और निर्धारित मित भोजन करने वाला मुनि (=वानप्रस्थ) वन में निवास करता हुआ मुख्य सिद्धि को प्राप्त होता है ।

७. जो वन में निवास करने वाला मुनि (वानप्रस्थ) हो वह ग्राम में सुलभ भोजनादि का उपयोग न करे । इस प्रकार जंगल में निवास करने वाले को ग्राम की याद नहीं सताती।

—

संन्यासी

१. वनेषु च विहृत्यैवं, तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं, त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥ (मनु.६.३३)

२. अधीत्य विधिवद् वेदान्, पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ (मनु.६.३६)

३. यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ (मनु.६.३९)

४. अनग्निरनिकेतः स्याद्, ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको, मुनिर्भावसमाहितः ॥ (मनु.६.४३)

५. क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च, न वाचामनृतां वदेत् ॥ (मनु.६.४८)

६. क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः, पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं, सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ (मनु.६.५२)

---

१. इस प्रकार से जीवन के तृतीय भाग (वानप्रस्थ आश्रम) का, वनों में विचरण करते हुए पालन करके, सब प्रकार के सङ्गों का त्याग करके चतुर्थ आश्रम (संन्यास आश्रम) को धारण करता हुआ सर्वत्र भ्रमण करना आरम्भ करे ।

२. ब्रह्मचर्याश्रम में विधिपूर्वक वेदों को पढ़के, गृहस्थाश्रम में धर्मानुसार सन्तानों को जन्म देकर उनका पालन पोषण करके और वानप्रस्थ आश्रम में सामर्थ्यानुसार अनेक यज्ञ करके तत्पश्चात् अपने मन को मोक्ष (–प्रधान संन्यासआश्रम) में लगावे ।

३. जो सब प्राणियों को अभयदान देकर सर्वकल्याणार्थ प्रव्रजन (संन्यास) की दीक्षा लेता है, उस ईश्वर और वेद के प्रचारक के लिये सभी स्थान ज्योतिर्मय बन जाते हैं।

४. संन्यासी स्वभोजनादि-हेतु अग्नि-चूल्हे आदि का बखेड़ा न करे, स्वयं हेतु कोई निश्चित भवन नहीं बनावे; भोजन-हेतु ही ग्रामादि का आश्रय लेवे, सामान्य सांसारिक व्यवहारों को उपेक्षा की दृष्टि से देखे, चञ्चलमति न बने, मननशील बने और ब्रह्मभाव में लीन रहे ।

५. अपने प्रति क्रोध करने वाले पर क्रोध नँ करे; कोई निन्दा करे तो भी उसके लिये कल्याणमय वचन बोले और पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन-बुद्धि इन सात द्वारों में बिखरी हुई अपनी वाणी से कभी झूठ न बोले ।

६. संन्यासी अपने केश, नख तथा दाढ़ीमूंछों को कटवाता रहे, कमण्डलु रखे, दण्ड धारण करे, गेरुए वस्त्र पहिने और किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाते हुए और संयमी रहते हुए सर्वत्र विचरण करे ।

७. दूषितोऽपि चरेद्धर्मं, यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु, न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ (मनु.६.६६)

—

वेदाः

१. पितृदेवमनुष्याणां, वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाऽप्रमेयं च, वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥

२. या वेदबाह्याः स्मृतयो, याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य, तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥
(मनु.१२.९४,९५)

३. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च, सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥

४. सेनापत्यं च राज्यं च, दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च, वेदशास्त्रविदर्हति ॥ (मनु.१२.९७,१००)

---

७. लोगों द्वारा दोषारोपण किये जाने पर भी सब आश्रमों में धर्मोपदेश करता हुआ अपने संन्यास धर्म का पालन करता रहे और सब प्राणियों पर समभाव रखे । इस प्रकार अपने आश्रम के मुख्य नियमों का पालन अवश्य करे और यह ध्यान रखे, कि दण्ड-कमण्डलु-गेरुए वस्त्र आदि चिह्न ही संन्यास-धर्म का आधार नहीं है ।

—

१. पितरों, देवों और साधारण मनुष्यों का शाश्वत नेत्र वेद है । वेद रूपी शास्त्र का निर्माण कोई मनुष्य नहीं कर सकता और न ही (बिना विशेष साधनादि के) कोई उसे जानने में समर्थ है, यही वास्तविकता है ।

२. जो वेद के विरुद्ध स्मृतियाँ हैं और जो कुत्सित दर्शन हैं (उन सबका अध्ययन जीते जी कष्टदायक है और) मरणोपरान्त भी कुसंस्कारकारक होने से निष्फल है, क्योंकि ऐसे ग्रन्थों को अज्ञानान्धकार-युक्त कहा गया है ।

३. चारों वर्ण, तीनों लोक और चारों आश्रम इनका तथा भूतकाल, वर्त्तमानकाल और भविष्यत्काल में होने वाले पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान वेद के द्वारा ही प्रसिद्ध होता है ।

४. वेदशास्त्र का विद्वान् सेनापति के कर्त्तव्य, राज्य-व्यवस्था, दण्ड-नीति और सम्पूर्ण देश देशान्तरों पर शासन के योग्य होता है ।

५. वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम् ।
वेदा मे परमं धाम, वेदा मे ब्रह्म चोत्तमम् ॥ (महाभा.शा.)

६. हृदयेष्वेव तिष्ठन्ते, वेदा ये नः परं धनम् ।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ (वाल्मी.अयो..४५.२५)

७. वेदाः प्रत्यक्षमाचारः ॥ (महाभा.अनु.१४७.१७)

८. वेदमेवाऽभ्यसेन्नित्यं, यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ (मनु.४.१४७)

९. ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवानिशम् ।
अनादिनिधना नित्या, वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ॥

१०. ऋषीणां नामधेयानि, याश्च वेदेषु सृष्टयः ।
नानारूपं च भूतानां, कर्मणां च प्रवर्त्तनम् ॥

११. वेदशब्देभ्य एवादौ, निर्मिमीते स महेश्वरः ॥
(महाभा.शा.२३२.२४-२६)

१२. तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः, सरहस्यो द्विजन्मना ॥

---

५. वेद ही मेरा (कृष्णद्वैपायन व्यास का) परम नेत्र है, वेद ही मेरा परम बल है । वेद ही मेरा परम प्राप्तव्य स्थान है और वेद ही मेरा परम ज्ञान है ।

६. अयोध्या से वनगमन हेतु प्रस्थित राम का अनुगमन करने वाले ब्राह्मणों के वचन—वेद जो कि हमारे परम धन हैं, वे तो हमारे हृदयों में प्रतिष्ठित हैं और हमारी स्त्रियाँ अपने चरित्रबल से अपने घरों में (अकेले) भी सुरक्षित रह लेंगी ।

७. वेद, सदाचार के प्रत्यक्ष उपदेष्टा हैं ।

८. मनुष्य आलस्य-रहित होकर नियत समय पर नित्य वेद का अभ्यास करे । वेदाभ्यास को ही मनुष्य का परम धर्म कहा है । अन्य धर्मों को उपधर्म कहा गया है ।

९. जन्म और विनाश से रहित नित्य जिस वेदमयी दिव्य वाणी का परमेश्वर ने प्रादुर्भाव किया, उस वाणी के अवयवभूत वेदों का ऋषियों ने तपस्या-पूर्वक दिन रात अध्ययन किया ।

१०-११. परमेश्वर प्रत्येक (सर्गारम्भ में) वेदों के शब्दों से ही ऋषियों के नामों का, वेदप्रोक्त सृष्टियों (रचनाओं) का, विभिन्न पदार्थों और प्राणियों के रूपों का तथा उनके कर्मों का प्रवर्त्तन करता है ।

१२. प्रत्येक द्विज को अनेक प्रकार की तपस्याओं के द्वारा और शास्त्रविहित व्रतों के अनुष्ठान के द्वारा, उपनिषदादिसहित सम्पूर्ण वेद का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

१३. वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्, तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य, तपः परमिहोच्यते ॥ (मनु.२.१६५,१६६)

१४. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ (मनु.२.१६८)

१५. सर्वेषां तु नामानि, कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ, पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ (मनु.१.२१)

१६. सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्त्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु विद्यते ॥ (महाभा.शा.२६५.९)

—

मैत्री

१. ओम् दृते दृंह मा । मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजु.३६.१८)

---

१३. ब्राह्मण (ज्ञान-प्रधान जिज्ञासु) तप तपता हुआ सदा वेद का अभ्यास करे । ज्ञानपिपासु के लिये संसार में वेदाभ्यास ही परम तप कहा गया है ।

१४. जो द्विज वेद का अध्ययन न करके अन्य ग्रन्थों के पढ़ने में अथवा अन्य कर्मों के करने में परिश्रम करता है; वह जीते जी ही अपने वंश-सहित शीघ्र शूद्रत्व (उत्तरदायित्वहीनता) को प्राप्त हो जाता है ।

१५. परमात्मा ने सर्गारम्भ में वेद के शब्दों से ही सब जड़ चेतन पदार्थों के पृथक्-पृथक् नामों का, सबके कर्मों का और लौकिक व्यवहारों का निर्माण किया ।

१६. शराब, मछली, नशीले मीठे पदार्थ, मांस, नशीले आसव और तामसिक पदार्थों से युक्त भात आदि के सेवन का प्रचलन धूर्त्तों ने ही किया है; वेदों में इनका विधान नहीं है ।

—

१. हे स्वनियमों पर दृढ़ रहने वाले परमेश्वर ! हमें भी दृढ़ बनाओ । (मैं ऐसा सद्व्यवहार करूँ कि) सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें । मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ । हम सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें ।

२. देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो, वसुर्वसूनामसि चाशरध्वरे ।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने, सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥
(ऋ.१.९४.१३)

३. मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठा अभि विदुष्कविः सन् ।
(ऋ.१.७१.१०)

४. विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे ॥ (यजु.११.६७)

५. मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चाऽसकृत् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाऽथ विज्ञाय, प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥ (महाभा.उ.३९.४१)

६. यस्य मित्रेण सम्भाषा, यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो, नास्तीह पुण्यवान् ॥ (हि.मि.३९)

७. क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः ।
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा, ह्यात्मा कृशानौ हुतः ॥

---

२. हे ईश्वर ! आप देवों में परम देव हैं, अद्भुत स्नेह से सम्पन्न मित्र हैं, सब ऐश्वर्य वालों में श्रेष्ठ ऐश्वर्यशाली हैं और प्रत्येक अहिंसायुक्त कर्म में अर्थात् यज्ञादि में सुन्दरतम वरणीय देव हैं । हे प्रकाश-प्रदाता परमेश्वर ! हम तेरे द्वारा प्रदत्त विस्तृत सुख में ही सदा वर्त्तमान रहें और तेरी मैत्री में रहते हुए हम कभी दुःखी न होवें ।

३. हे ज्ञान-प्रदाता ईश्वर ! आप सर्वज्ञानमय हैं आप हमारी, पिता आदि की परम्परा से चली आ रही मैत्री को क्षीण मत होने देना ।

४. समस्त मनुष्य उस सर्वमार्ग-दर्शक परमेश्वर देव की मैत्री को अपनावें । क्योंकि सभी मनुष्य विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये सङ्घर्ष करते हैं (और ऐश्वर्य की उपलब्धि उस ईश्वर की कृपा से होती है ।) सब मनुष्य सर्वविध पोषण के लिये ब्रह्मतेज को धारण करें ।

५. बुद्धिमान् मनुष्य, मनन चिन्तन द्वारा परीक्षा करके, बुद्धि से अनेक बार निश्चय करके, सुनकर, देखकर और समझकर के मेधावी लोगों के साथ मित्रता करे ।

६. जिसकी मित्र के साथ उत्तम रीति से बातचीत होती है, जिसका मित्र के साथ भली प्रकार बैठना उठना होता है और जिसका मित्र के साथ उत्तम वार्त्तालाप होता है; उस मनुष्य से बढ़कर अन्य कोई पुण्यात्मा नहीं है ।

७. दूध ने पहिले अपने में मिले हुए (या मिलाये हुए) पानी को अपने (श्वेतता आदि) सभी गुण प्रदान कर दिये; (गरम किये जाते हुए) दूध के सन्ताप को देखकर तब पानी ने अपने आपको अग्नि में जला दिया । (परिणामतः पानी वाष्प बनकर उड़ने

गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्, दृष्ट्वा तु मित्राऽऽपदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥ (नीति.७६)

८. पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥ (नीति.७३)

९. शुचित्वं त्यागिता शौर्यं, सामान्यं सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च, सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥ (हि.मि.९६)

१०. कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम् ।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां, मित्रमत्यागि चेष्यते ॥ (महाभा.उ.३९.५०)

११. यः कश्चिदप्यसम्बद्धो, मित्रभावेन वर्त्तते ।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं, सा गतिस्तत्परायणम् ॥ (महाभा.उ.३३.३८)

१२. प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं, धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च, सुहृदं परिपालयेत् ॥ (महाभा.उ.३९.४५)

लगा) तब अपने मित्र पानी की विपत्ति को देखकर दूध अग्नि में गिरने को तत्पर हो गया तब (ऊपर से और जल डालने पर) उस जल से मिलने पर ही वह दूध शान्त हुआ । अहा! मित्रता हो तो ऐसी हो ।

८. जो मित्र को पाप कर्म से दूर हटाता है, हितकारक कर्म में लगाता है, अपने मित्र की गुप्त रखने योग्य बातों को गुप्त रखता है किन्तु उसके गुणों को (अन्यों के समक्ष) प्रकट करता है, विपत्ति में फंस जाने पर मित्र को उसी अवस्था में नहीं छोड़ देता है और अवसर आने पर उसे (अपेक्षित वस्तु) देता भी है; इस प्रकार की वृत्ति वाले को ही सज्जन लोग उत्तम मित्र के लक्षणों वाला कहते हैं ।

९. पवित्रता, त्याग, पराक्रम, सुख दुःख में सहभागिता, निपुणता और उदारता, अनुराग, तथा सत्यता ये सात मित्र के गुण हैं ।

१०. किये उपकार को मानने वाला, धर्मशील, सत्यपरायण, नीचतारहित, दृढ़भक्ति वाला, जितेन्द्रिय, सब परिस्थितियों में साथ टिकने वाला और अपने सुहृद् को न त्यागने वाला; ऐसा मित्र होना चाहिये ।

११. जो कोई अपने से सम्बन्ध न होने पर भी हमारे साथ मित्रभाव से व्यवहार करता है वही सच्चा बन्धु और मित्र है, वही हमारी प्रगति कराने वाला और वही कार्य को पूरा करने वाला है ।

१२. मनुष्य बुद्धिशीलों की सङ्गति करने वाले, चिकित्सा करने वाले, धार्मिक, प्रिय आकृति वाले, मित्रों वाले और उत्तम वचन बोलने वाले मित्र का अवश्य परिपालन करे।

१३. न मातरि न दारेषु, न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां, यादृङ् मित्रे स्वभावजे ॥ (हि.मि.२०६)

१४. आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण, लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना, छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥
(नीति.६०)

१५. आढ्यो वापि दरिद्रो वा, दुःखितः सुखितोऽपि वा ।
निर्दोषश्च सदोषश्च, वयस्यः परमा गतिः ॥ (वाल्मी.कि.८.८)

१६. शोकाऽरातिभयत्राणं, प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं, मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ (हि.मि.२०९)

१७. मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तद् दुर्लभम् ।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुलास्,
ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत् ॥ (हि.मि.२१०)

---

१३. मनुष्यों का न अपनी माता पर, न पत्नी पर, न सगे भाई पर और न अपने पुत्र पर वैसा विश्वास होता है, जैसा कि अपने स्वाभाविक मित्र पर ।

१४. आरम्भ में बड़ी पर धीरे धीरे क्षीण हो जाने वाली और पहिले छोटी पर पीछे बढ़ती जाने वाली दिन के पूर्वाह्ण और अपराह्ण की छाया के समान ही क्रमशः दुष्टों की और सज्जनों की मैत्री होती है । (दुष्टों की मित्रता आरम्भ में पूर्वाह्ण की छाया के समान बड़ी विस्तृत होती है, पर धीरे धीरे वह टूट जाती है; जबकि सज्जनों की मित्रता अपराह्ण की छायावत् पहिले सामान्य सी पर धीरे धीरे वह प्रगाढ़ होती जाती है)

१५. मित्र चाहे धनवान् हो चाहे गरीब हो, दुःखी हो अथवा सुखी हो, दोषरहित हो अथवा किसी दोष से युक्त भी हो, पर मनुष्य के लिये, तो वह मित्र ही परम सहायक है ।

१६. शोक, शत्रु और भय से बचाने वाला तथा प्रेम और विश्वास का पात्र यह 'मित्र' रूपी दो अक्षर वाला रत्न किसने रचा है ?

१७. जो नेत्रों में प्रेम रूपी रसायन को भर देने वाला हो, चित्त को आनन्दित करने वाला हो और सुख तथा दुःख में अपने मित्र के साथ रहने वाला हो ऐसा मित्र दुर्लभ ही है—कोई कोई विरला ही होता है । प्रायः तो ऐसे मित्र अधिक होते हैं, जो अपने मित्र की सम्पन्नता के समय उससे धनादि पाने की लालसा से पूर्ण होते हैं, ऐसे मित्र सर्वत्र सुलभ हैं । ऐसे लोगों की मित्रता की कसौटी तो मित्र पर आई हुई विपत्ति ही होती है।

१८. सत्कृताश्च कृतार्थाश्च, मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः, कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥ (महाभा.उ.३३.४२)

१९. न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति, यद्वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत, तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥
(महाभा.उ.३६.३७)

२०. सर्वथा सुकरं मित्रं, दुष्करं प्रतिपालनम् ।
अनित्यत्वात्तु चित्तानां, प्रीतिरल्पेऽपि भिद्यते ॥ (वाल्मी.कि.३२.७)

२१. अवलिप्तेषु मूर्खेषु, रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥ (महाभा.उ.३९.४९)

२२. स्वाभाविकं तु यन्मित्रं, भाग्येनैवाभिजायते।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ (हि.मि.२०५)

२३. चलचित्तस्य वै पुंसो, वृद्धाननुपसेवतः ।
परिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसङ्ग्रहः ॥ (महाभा.उ.३६.३९)

२४. रहस्यभेदो याच्ञा च, नैष्ठुर्यं चलचित्तता ।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ॥ (हि.मि.९८)

---

१८. जो मित्रों द्वारा सत्कार आदि पाकर भी उस सत्कारादि उपकार को नहीं मानते, उन कृतघ्न मनुष्यों को तो, मरने पर गिद्ध गीदड़ आदि भी नहीं खाते ।

१९. वह मित्र मित्र नहीं है जिसके क्रोध से उसका मित्र भयभीत रहता है अथवा जिसके प्रति शङ्कालु रहना पड़ता है । जिसके ऊपर उसका मित्र पिता पर जैसे वैसे विश्वास रखता हो वही सच्चा मित्र है, अन्य तो ऐसे ही (अकस्मात्) साथ लगने वाले हैं ।

२०. मित्र बनाना बड़ा सरल है, किन्तु उसको निभाना कठिन है; क्योंकि चित्तों के अस्थिर होने से, छोटे से कारण से भी प्रेम टूट जाता है ।

२१. बुद्धिमान् मनुष्य; अभिमानी, मूर्ख, भयङ्कर, साहसिक-कर्म-कर्त्ता और धर्म से विमुख लोगों से मित्रता न करे ।

२२. स्वाभाविक मित्र तो भाग्य से ही मिलता है । वह अपने स्वाभाविक मित्र-भाव को विपत्तियों में भी नहीं त्यागता है।

२३. जो चञ्चल-चित्त है और जो वृद्धों की सेवा तथा उनका सत्सङ्ग नहीं करता, उस अस्थिर बुद्धिवाले मनुष्य के द्वारा किया गया मित्रों का संग्रह स्थायी नहीं होता ।

२४. रहस्य को खोल देना, मांगना, क्रूरता, चञ्चलचित्तता, क्रोध, असत्य और जुआ खेलना; ये मित्रता को नष्ट करने वाले दोष हैं ।

२५. धनत्यागः सुखत्यागो, देशत्यागोऽपि वाऽनघ ।
वयस्यार्थे प्रवर्त्तन्ते, स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम् ॥ (वाल्मी.कि.८.९)

२६. दुर्जनेन समं सख्यं, प्रीतिं चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाङ्गारः, शीतः कृष्णायते करम् ॥ (हि.मि .८०)

२७. परोक्षे कार्यहन्तारं, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं, विषकुम्भं पयोमुखम् ॥ (हि.मि.७७)

२८. इच्छेच्चेद्विपुलां मैत्रीं, त्रीणि तत्र न कारयेत् ।
वाग्वादमर्थसम्बन्धं, तत्पत्नीपरिभाषणम् ॥

—

वैराग्यम्

१. न विषयभोगो भाग्यं युक्तं खलु यत्र जन्तुमात्रमपि ।
ब्रह्मेन्द्र-रुद्रमृग्यं भाग्यं विषयेषु वैराग्यम् ॥ ( )

२. अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः, समाहितस्यैव दृढ़ः प्रबोधः ।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥
(विवेक.३७६)

---

२५. हे निष्पाप राम ! मित्र के मन में अपने प्रति स्नेह की मात्रा को देखकर तदनुसार उसका मित्र उसके लिये धन का त्याग, सुख का त्याग अथवा देश का त्याग भी कर देता है ।

२६. दुष्ट मनुष्य के साथ मैत्री अथवा प्रीति न करे । अंगारा गरम हो तो जलाता है और ठंडा होने पर हाथ को काला करता है ।

२७. पीठ पीछे कार्य बिगाड़ने वाले और सामने प्रियवचन बोलने वाले, ऐसे मित्र को त्याग देवे । वह मित्र उस विष से भरे घड़े के समान है, जिसके मुख भाग में थोड़ा दूध हो ।

२८. गहरी मित्रता की कामना हो, तो तदर्थ तीन बातों को कभी न करे – वे हैं– वाणी से विवाद, रुपये पैसे आदि का लेन देन और मित्र की पत्नी से विशेष वार्त्तालाप ।

—

१. विषय भोग–जिसमें कि प्राणी मात्र लगा हुआ है–असली भाग्य नहीं है । असली भाग्य तो विषयों से वैराग्य होना है, जिसकी खोज में ब्रह्मा, इन्द्र और रुद्र भी लगे हुए हैं ।

२. अत्यन्त वैराग्यवान् मनुष्य को समाधि-लाभ होता है, समाधि वाले को पक्का आत्मज्ञान हो जाता है, आत्मतत्त्व के ज्ञाता की बन्धनों से मुक्ति हो जाती है और मुक्तात्मा को नित्य सुख का अनुभव हो जाता है ।

३. वैराग्यस्य फलं बोधो, बोधस्योपरतिः फलम् ।
स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥ (विवेक. ४२०)

४. वासनानुदयो भोग्ये, वैराग्यस्य परोऽवधिः ।
अहम्भावोदयाऽभावो, बोधस्य परमोऽवधिः ॥ (विवेक. ४२५)

५. भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं, वित्ते नृपालाद्भयम्,
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं, रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं, काये कृतान्ताद् भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां, वैराग्यमेवाऽभयम् ॥ (वैराग्य .३३)

६. नित्याऽनित्य-विचारणा प्रणयिनी, वैराग्यमेकं सुहृन्
मित्राण्येव यमादयः शमदम-प्रायाः सखायो मताः ।
मैत्र्याद्याः परिचारिकाः सहचरी नित्यं मुमुक्षा बला-
दुच्छेद्या रिपवश्च मोहममता-सङ्कल्पवैरादयः ॥ (प्रबो .६.३)

७. आदित्यस्य गताऽऽगतैरहरहः, संक्षीयते जीवितं,
व्यापारैर्बहु-कार्यभारगुरुभिः, कालो न विज्ञायते ।

---

३. वैराग्य का फल ज्ञान (आत्मज्ञान) है, ज्ञान का फल विषयों से निवृत्ति होना है और विषयों में अप्रवृत्ति का फल आत्मानन्द की अनुभूति से शान्ति का होना है ।

४. भोग्य वस्तुओं के प्रति वासना का उदय न होना ही वैराग्य की चरम सीमा है और अहंभाव के उदय का अभाव आत्मज्ञान की चरम सीमा है ।

५. भोग में रोग का भय है, कुल में मर्यादा से गिरने का भय है । धन होने पर राजा से भय, मौन रखने पर दीनता का भय, बल होने पर शत्रु का भय है, सौन्दर्य में बुढ़ापे का भय, शास्त्रज्ञान में शास्त्रार्थ-प्रतिवादी का भय, गुणों में दुष्ट का भय है और शरीर में मृत्यु का भय है । इस प्रकार संसार में ये सभी वस्तुएँ भय से युक्त हैं, केवल मात्र वैराग्य ही भय से रहित है ।

६. साधनापथ के मनुष्य के लिये तो–नित्य और अनित्य पदार्थों के विचारने की वृत्ति ही प्रेमिका है, वैराग्य ही एकमात्र सुहृत् है, यम नियम आदि मित्र हैं, शम दम आदि सखा हैं, मैत्री करुणा आदि सेविकाएँ हैं, मुक्ति की इच्छा ही सहचरी है और मोह, ममता, भोग-सङ्कल्प तथा वैरभाव आदि ही उसके प्रयत्न-पूर्वक उखाड़ने योग्य शत्रु हैं ।

७. सूर्य के जाने और आने से (अस्त और उदय से) प्रतिदिन जीवन (आयु) क्षीण हो रही है; अनेक प्रकार के कार्यों के भार से बोझिल चेष्टाओं के कारण काल का ही ज्ञान

दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं, त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥ (वैराग्य.७)

८. निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः,
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो दुष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥ (वैराग्य .९)

९. अजानन् माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने,
स मीनोऽप्यज्ञानाद् बडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्,
न मुञ्चामः कामानहह ! गहनो मोहमहिमा ॥ (वैराग्य .२०)

१०. वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते,
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥ (वैराग्य .३६)

नहीं रहता और जन्म, बुढापा, विपत्ति तथा मृत्यु को देखकर भी भय उत्पन्न नहीं होता। (कारण यह है कि) यह संसार मोहमिश्रित प्रमाद रूपी मदिरा को पीकर पगला गया है ।

८. भोगों की इच्छा दूर हो गई है, पुरुषों में जो मानसम्मान था वह भी कम हो गया है और अपने प्राणों के समान प्रिय समवयस्क मित्रजन भी शीघ्र ही क्रमशः स्वर्गवासी हो गये। अब धीरे-धीरे लकड़ी के सहारे उठा जाता है और नेत्र गहरे अंधेरे से बंद से हो गये हैं, अहो ! यह दुष्ट शरीर (जीवन) तो भी मृत्यु और संसार के छूटने के विषय में चकित है ।

९. अग्नि की वास्तविकता को न समझता हुआ पतंगा दीपक की अग्नि में गिर सकता है और वह मछली भी अज्ञान के कारण कांटे में फंसे मांस को खा सकती है, किन्तु ये हम लोग तो अच्छी प्रकार जानते हुए भी, आपत्तियों के समूह से भरे हुए काम-भोगों को नहीं त्यागते ! अहह !! मोह की महिमा बड़ी बलवती है ।

१०. हम जिन से उत्पन्न हुए । वे (माता पिता आदि) बहुत सयम पूर्व ही चले गये और जिनके साथ हम बड़े हुए थे, वे भी केवल स्मृति का विषय बना दिये गये । अब तो ये हम लोग हैं, जिनका पतन (क्षय) दिन प्रतिदिन हो रहा है और हम उन वृक्षों की सी अवस्था को प्राप्त हो गये हैं, जो नदी के रेतीले तट पर लगे हुए हों ।

११. भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ता: ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा: ।।
(वैराग्य.१२)

१२. अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्त: स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनस:,
स्वयं त्यक्तास्त्वेते शमसुखमनन्तं विदधति ।। (वैराग्य .१६)

१३. यथा काष्ठं च काष्ठं च, समेयातां महार्णवे ।
समेत्य च व्यपेयातां, कालमासाद्य कञ्चन ।

१४. एवं भार्या च पुत्राश्च, ज्ञातयश्च वसूनि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति, ध्रुवो ह्येषां विनाभव: ।।
(वाल्मी.अयो.१०५.२६,२७)

१५. जन्ममृत्युजरा-व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम् ।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजत: सुखम् ।। (हि.स.८८)

१६ सर्वे क्षयान्ता निचया:, पतनान्ता: समुच्छ्रया: ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ।। (वाल्मी.अयो.१०५.१६)

---

११. हमारे द्वारा भोग नहीं भोगे गये अपितु हम ही भोगों के द्वारा भोग लिये गये, हमने तप नहीं तपा अपितु हम ही सन्तप्त हो गये । समय नहीं बीता अपितु हम ही बीत गये और तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई अपितु हम ही बूढ़े हो गये । (यह है हमारे प्रमाद का परिणाम) ।

१२. बहुत समय तक रहकर भी अन्तत: ये विषय जायेंगे ही, पर इनके दूर होने में कौनसी अड़चन या रहस्य है, कि मनुष्य इनको स्वयं नहीं त्यागता है । ये विषय जब स्वेच्छा से मनुष्य को त्यागकर जाते हैं, तो मनुष्य के मन को महा सन्ताप होता है, किन्तु जब स्वयं मनुष्य के द्वारा ये त्याग दिये जाते हैं, तो ये शान्तिपूर्ण अतुल सुख प्रदान करते हैं।

१३-१४. जैसे महासागर में (किसी समय) दो काष्ठ इकट्ठे हो जायें और इकट्ठे होकर फिर किसी समय अलग हो जायें; ऐसे ही पत्नी, पुत्र, बन्धु-बान्धव और धन-सम्पत्ति ये सब (हमारे साथ इकट्ठे होते हैं और) इकट्ठे होकर फिर हमारे से दूर हो जाते हैं, क्योंकि इन सबका दूर होना अवश्य ही निश्चित होता है ।

१५. जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग और पीड़ा आदि से व्याकुल इस उत्पन्न हुए असार संसार को (यथासमय) त्यागने वाले को ही सच्चा सुख होता है ।

१६. सभी सङ्ग्रह अन्त में क्षय को प्राप्त होते हैं, सभी उन्नत वस्तुओं का भी अन्त में पतन होता है, सभी संयोग को प्राप्त पदार्थों का अन्त में वियोग होता है और सभी जीवित प्राणियों की अन्त में मृत्यु होती है ।

१७. भोगास्तुङ्गतरङ्गभङ्गचपलाः, प्राणाः क्षणध्वंसिनः,
स्तोकान्येव दिनानि यौवनसुखं, स्फूर्तिः क्रियास्वस्थिरा ।
तत्संसारमसारमेव निखिलं, बुद्ध्वा बुधा बोधका
लोकानुग्रहपेशलेन मनसा, यत्नः समाधीयताम् ॥ ( )

१८. मातापितृसहस्राणि, पुत्रदारशतानि च ।
तवानन्तानि यातानि, कस्तेषां कस्य वा भवान् ॥ ( )

१९. त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां, कृमीणां कियदन्तरम् ॥ ( )

२०. दिनमपि रजनी सायं प्रातः, शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥ (चर्पट .१)

२१. यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
पश्चाद्धावति जर्जरदेहे, वार्त्तां पृच्छति कोऽपि न गेहे ॥ (चर्पट .३)

२२. अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥ (चर्पट .६)

---

१७. सांसारिक भोग ऊँची-ऊँची तरङ्गों की छटाओं के समान चञ्चल हैं, प्राण क्षणों में ही नष्ट हो जाने वाले हैं, जवानी का सुख भी कुछ ही दिन रहने वाला है और कार्यों में जो स्फूर्ति है वह भी अस्थायिनी है । तो हे ज्ञानशीलो और ज्ञान देने वालो ! इस समस्त संसार को असार जानकर, लोगों पर कर्त्तव्य दया को मन में रखकर, इस संसार के पार जाने हेतु शीघ्र ही प्रयत्न-उपाय खोजिये ।

१८. हजारों माता-पिता और सैंकड़ों पुत्र और पत्नियाँ; इस प्रकार तेरे अनन्त सगे सम्बन्धी हो चुके । उनका कौन हुआ और किसके तुम हुए ?

१९. त्वचा, मांस, खून, स्नायु, चर्बी, मज्जा और हड्डियों के समूह रूप तथा मल, मूत्र और पीब से भरे हुए इस शरीर में आसक्त रहने वाले मनुष्यों में और कीड़ों में कितना अन्तर है ?

२०. दिन-रात, सायं-प्रातः और शिशिर-वसन्त आदि बारम्बार आते रहते हैं; इस प्रकार काल क्रीडा कर रहा है तथा आयु बीतती जा रही है, तो भी आशा रूपी वायु पिण्ड नहीं छोड़ रही है ।

२१. जब तक मनुष्य धन कमाने में लगा रहता है, तब तक उसका परिवार उससे प्रेम करता है, किन्तु जब बुढ़ापे में शरीर जीर्ण हो जाता है, तो घर में कोई उसकी बात भी नहीं पूछता है ।

२२. शरीर गल गया है, सिर के बाल पक गये हैं और मुख दांतों से रहित हो गया है, इस अवस्था से युक्त बूढ़ा मनुष्य लकड़ी लेकर चलता है, तो भी जीने की बलवती लालसा उसका पिण्ड नहीं छोड़ती है ।

२३. नलिनीदलगतसलिलं तरलं, तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ।
विद्धि व्याध्यभिमानग्रस्तं, लोकं शोकहतं च समस्तम् ॥ (मोह.१०)

—

योगः

१. आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां, सन्निकर्षात्प्रवर्त्तते ।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥
२. निवर्त्तते तदुभयं, वाशित्वं चोपजायते ।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ॥ (च.शा.१.१३८,१३९)
३. योगे मोक्षे च सर्वासां, वेदनानामवर्त्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा, योगो मोक्षप्रवर्त्तकः ॥ (च.शा.१.१३७)
४. यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं, मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन, गुरुणापि विचाल्यते ॥
५. तं विद्याद् दुःख-संयोग-वियोगं, योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥
(महाभा.भी.३०.२२,२३)

---

२३. जैसा कमलिनी के पत्ते पर पड़ा हुआ जल-बिन्दु चञ्चल होता है, वैसे ही यह जीवन भी अत्यन्त चञ्चल है । इस सम्पूर्ण संसार को रोग तथा अभिमान से ग्रस्त और शोकादि से पीड़ित समझो ।

—

१-२. आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषयों (पदार्थों) के सामीप्य से सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, किन्तु जब आत्मा के शरीर में रहते हुए ही, मन के आत्मलीन होकर, स्थिर हो जाने पर इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति न होने से सुख और दुःख मिट जाते हैं; तो इस स्थिति को योग के ज्ञाता ऋषि जन 'योग' कहते हैं ।

३. योग और मोक्ष में सभी प्रकार के दुःखों की अप्राप्ति होती है और मोक्ष में तो दुःखों की सम्पूर्ण रूप से निवृत्ति हो जाती है । योग मोक्ष का कारण है ।

४-५. जिसको पा करके उससे अधिक किसी अन्य लाभ को मनुष्य नहीं मानता है और जिसमें पहुँचा हुआ मनुष्य, बड़े भारी दुःख के द्वारा भी विचलित नहीं किया जाता है, उस दुःख के संयोग को दूर करने वाले उपाय को 'योग' समझना चाहिये और तत्पर मन से उस योग को निश्चयपूर्वक करना चाहिये ।

६. असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ (महाभा.भी.३०.३६)

७. भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनी-चञ्चला,
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालसा तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं,
योगे धैर्य-समाधि-सिद्धि-सुलभे, बुद्धिं विधध्वं बुधाः ॥ (वैराग्य .५१)

८. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

९. युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ॥
(महाभा.भी .३०.१६,१७)

१०. शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं, चैलाजिन-कुशोत्तरम् ॥

११. तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्, योगमात्मविशुद्धये ॥
(महाभा.भी .३०.११,१२)

---

६. जिसका मन वश में नहीं ऐसे मनुष्य के द्वारा योग को प्राप्त करना अति कठिन है, ऐसा मेरा विचार है; किन्तु मन को वश में रखने वाले प्रयत्नशील मनुष्य के द्वारा वह योग उत्तम उपायों से प्राप्त किया जा सकता है ।

७. हे ज्ञानवान् मनुष्यो ! प्राणियों के ये भोग, मेघ-समूह के मध्य में चमकने वाली बिजली के समान चञ्चल हैं; आयु पवन के द्वारा बिखेरी गई बदलियों में लीन जलकणों के समान क्षणिक है और जवानी की लालसा भी अस्थिर है; ऐसा भली प्रकार समझकर शीघ्र ही, धैर्य से प्राप्तव्य समाधि की सिद्धि को प्राप्त कराने वाले योग में अपने चित्त को लगाओ ।

८. हे अर्जुन ! यह योग न तो अधिक खाने वाला का सिद्ध होता है और न सर्वथा ही न खाने वाला का । न अधिक सोने वाले का और न ही सर्वथा जागने वाला का सिद्ध होता है ।

९. यथायोग्य भोजन और व्यायामादि करने वाले, कर्मों में उचित चेष्टा करने वाले और उचित मात्रा में शयन तथा जागरण करने वाले मनुष्य का योग दुःखहारी होता है ।

१०-११. शुद्ध स्थान में, नीचे कुशासन उस पर मृगचर्म और उस पर वस्त्र हो; ऐसे अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा रखकर उस आसन पर बैठकर, अपने मन को एकाग्र करके और अपने चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में किया हुआ मनुष्य, अपनी शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे ।

१२. आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥
१३. इत्यष्टविधमाख्यातं, योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्, तत्सर्वमुपजायते ॥ (च.शा.१.१४०,१४१)
१४. ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
(महाभा.भी .३०.८)
१५. आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः ॥ (महाभा.भी.३०.३२)
१६. चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा, शूद्रोऽथ किं तापसः,
किं वा तत्त्वविवेक-पेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
इत्युत्पन्न-विकल्पजल्पमुखरैः, सम्भाष्यमाणा जनैर्
न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो, यान्ति स्वयं योगिनः ॥ (वैराग्य.५३)
१७. धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी, शान्तिश्चिरं गेहिनी,
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी, भ्राता मनःसंयमः ।

१२-१३. चित्त की तीव्र गति, पदार्थों का ज्ञान, स्वेच्छा से क्रियाओं का करना, विशेष दृष्टि, विशेष श्रवण, विशेष स्मृति, विशेष कान्ति और स्वेच्छया अपने को न दिखने देना; ये आठ प्रकार का, योगियों का ईश्वरकृपा से प्राप्त बल कहा गया है । शुद्ध हुए अन्तःकरण के समाधान से उपर्युक्त सब प्रकार का बल उत्पन्न हो जाता है ।

१४. ज्ञान-विज्ञान से तृप्त आत्मा वाला, विकार-रहित समस्थिति वाला, जितेन्द्रिय और मिट्टी, पत्थर तथा सोने को समदृष्टि से देखने वाला योगी 'युक्त' (भगवान् के साक्षात्कार से सम्पन्न) ऐसा कहलाता है ।

१५. हे अर्जुन ! जो अपनी सदृशता से सर्वत्र सुख या दुःख को समान रूप से देखता है, वह योगी परम (श्रेष्ठ) माना गया है ।

१६. क्या यह चाण्डाल है अथवा द्विज है ? शूद्र है अथवा कोई तपस्वी है ? अथवा क्या यह कोई तत्त्वविवेचन में निपुण बुद्धि वाला योगीश्वर है ? इस प्रकार की अनेक विकल्प वाली वाणियों वाले मनुष्यों के द्वारा चर्चा किये जाते हुए योगी जन; न तो इन पर क्रुद्ध होते हुए और न ही सन्तुष्ट होते हुए अपने मार्ग में चलते जाते हैं ।

१७. जिसका धैर्य ही पिता, क्षमा माता, स्थायी रहने वाली शान्ति गृहिणी, सत्य मित्र, दया बहिन, मन का संयम भाई, भूमितल बिस्तर, दिशाएँ वस्त्र, और ज्ञानरूपी अमृत

शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं, ज्ञानामृतं भोजनं,
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे ! कस्माद्भयं योगिनः ॥
(वैराग्य .१०७)

१८. आशा नाम नदी मनोरथजला, तृष्णा तरङ्गाऽऽकुला,
रागग्राहवती वितर्क-विहगा, धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना, प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥ (वैराग्य.४२)

१९. गङ्गातीरे हिमगिरिशिला-बद्धपद्मासनस्य,
ब्रह्मध्यानाऽभ्यसनविधिना, योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः,
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः शृङ्गमङ्गे मदीये ॥ (वैराग्य.३९)

२०. प्राणायामं प्रत्याहारं, नित्याऽनित्यविवेकविचारम् ।
जाप्यसमेतसमाधिविधानं, कुर्ववधानं महदवधानम् ॥ (मोहमु.९)

ही भोजन हो । एवं च ये ही जिसके कुटुम्बी हों, हे मित्र ! तुम्हीं बताओ उस योगी को किससे भय हो सकता है ?

१८. आशा रूपी यह एक नदी है जिसमें मन:कामना रूपी जल है, जो तृष्णा रूपी तरङ्गों से भरी हुई है, राग (आसक्ति) रूपी मगरों से युक्त है, धैर्य रूपी वृक्षों को उखाड़ने वाली है, मोह रूपी भँवर के कारण कठिनाई से तैरने योग्य है, अत्यन्त गहरी है और चिन्ता रूपी ऊँचे-ऊँचे तटों वाली है । उस आशा रूपी नदी के परले पार पहुँचे हुए विशुद्ध मन वाले योगीश्वर ही आनन्दित होते हैं ।

१९. क्या मेरे भी वे उत्तम दिन आयेंगे ? जब गङ्गा के तट पर हिमालय की तलहटी की किसी चट्टान पर पद्मासन लगाकर मैं बैठा होऊँगा और ब्रह्म के ध्यान का अभ्यास करते हुए योगनिद्रा को प्राप्त मेरे शरीर पर बूढ़े हरिण नि:शङ्क होकर अपने सींग को रगड़कर सींग की खाज मिटायेंगे ?

२०. हे साधक ! प्राणायाम, प्रत्याहार, नित्य और अनित्य के विवेचन से युक्त चिन्तन, जप तथा समाधि; इन क्रियाओं को एकाग्रचित्त से किया कर, यही सबसे बड़ी सावधानी है ।

—

प्राणायाम:

१. प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये ।
प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात्सर्वायुषमुच्यते ॥

२. सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते ।
प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात्सर्वायुषमुच्यते ॥ (तैत्ति.ब्रा.३.१,२)

३. प्राणायामैर्दहेद् दोषान्, धारणाभिश्च किल्विषान् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्, ध्यानेनाऽनीश्वरान् गुणान् ॥ (मनु.६.७२)

४. प्राणायामा ब्राह्मणस्य, त्रयोऽपि विधिवत् कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥

५. दह्यन्ते ध्मायमानानां, धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते, दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ (मनु.६.७०,७१)

६. प्राणो विलीयते यत्र, मनस्तत्र विलीयते ।
मनो विलीयते यत्र, प्राणस्तत्र विलीयते ॥ ( )

---

१. जो देव, मनुष्य और पशु हैं, वे प्राणों के आधार पर ही जीवन-धारण करते हैं । प्राण ही प्राणियों की आयु है, अतः प्राण ही सम्पूर्ण आयु कहा गया है ।

२. जो प्राण रूपी ब्रह्म (अति महत्त्वपूर्ण तत्त्व) की साधना करते हैं, वे सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं । प्राण ही प्राणियों की आयु है, अतः प्राण ही सम्पूर्ण आयु कहा गया है।

३. मनुष्य प्राणायामों से रागद्वेषादि दोषों को भस्म कर दे, धारणाओं से पापाचरणों को नष्ट कर दे । प्रत्याहार से विषयों के सम्पर्कों को जला दे और ध्यान से काम क्रोध लोभ आदि दुर्गुणों को भस्म कर दे ।

४. ब्राह्मण (ब्रह्मपरायण मनुष्य) के द्वारा व्याहृतियों और प्रणव (ओंकार) के साथ-साथ विधिपूर्वक किये गये तीन भी प्राणायामों को श्रेष्ठ तप समझना चाहिये ।

५. जैसे अग्नि में फूंकी जाती हुई धातुओं के मल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही प्राणों के निग्रह (प्राणायाम से) इन्द्रियों के दोष भस्म हो जाते हैं ।

६. जहाँ प्राण लीन होता है वहीं मन भी लीन हो जाता है और जहाँ मन लीन होता है वहीं प्राण भी पहुँच जाता है ।

—

सन्तोषः

१. सन्तोषं परमास्थाय, सुखार्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं, दुःखमूलं विपर्ययः ॥ (मनु.४.१२)

२. सन्तोषामृततृप्तानां, यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ (हि.मि.१४३)

३. सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य, सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य, ननु चर्मावृतेव भूः ॥ (हि.मि.१४२)

४. वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः,
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥ (वैराग्य.४७)

५. यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते, नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ (महाभा.शा.२६७.६)

---

१. सुख का इच्छुक मनुष्य उत्तम सन्तोष को धारण करके (आवश्यकताओं के विषय में) संयम बर्त्ते । सुख का कारण सन्तोष है और दुःख का कारण असन्तोष (तृष्णा) है ।

२. सन्तोष रूपी अमृत से तृप्त हुए शान्त चित्त वाले मनुष्यों को जो सुख होता है, वह सुख धन के लोभी और इधर उधर निरन्तर भाग दौड़ करने वालों को कहाँ ?

३. समस्त ऐश्वर्य उसी के हैं जिसका कि मन सन्तुष्ट है । पांव में जूते पहने हुए मनुष्य के लिये, तो मानो सारी भूमि ही चर्म से ढकी हुई है ।

४. हे ऐश्वर्यमत्त मनुष्य ! हम तपस्वी वृक्ष की छालों के वस्त्रों से सन्तुष्ट हैं, जबकि तुम्हें रेशमी दुपट्टों से सन्तोष होता है । हम दोनों का सन्तोष तो एक समान ही है, उनमें कोई अन्तर नहीं है । दरिद्र तो वह होता है जिसकी तृष्णा विशाल होती है । मन के सन्तुष्ट हो जाने पर, तो क्या धनी और क्या निर्धन सब एक समान हैं ।

५. संसार में जो साधारण कामनाओं के सुख हैं और जो विशिष्ट ऐश्वर्यों के दिव्य सुख हैं, ये दोनों प्रकार के सुख, तृष्णा के नष्ट हो जाने पर जो सुख मिलता है उसकी सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं ।

६. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्द्धते ॥ (महाभा.आ.७५.५०)

७. पृथिवी रत्नसम्पूर्णा, हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥ (महा.आदि.७५.५१)

८. मूढ ! जहीहि धनागमतृष्णां, कुरु सद्बुद्धिं मनसि वितृष्णाम् ।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं, वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ॥ (मोह.१)

९. सन्तोषो वै स्वर्गतमः, सन्तोषः परमं सुखम् ।
तुष्टेर्न किञ्चित्परतः, सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ॥ (महाभा.शा.२१.२)

१०. असन्तोषपरा मूढाः, सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ।
अन्तो नास्ति पिपासायाः, सन्तोषः परमं सुखम् ॥
(महाभा.वन.२.४६)

११. असन्तुष्टस्य विप्रस्य, तेजो विद्या तपो यशः ।
स्रवतीन्द्रियलौल्येन, ज्ञानं चैव विकीर्यते ॥ (भाग.७.१५.१९)

---

६. कामना कभी भी कामनाओं के उपभोग से शान्त नहीं होती अपितु बढ़ती ही है । जैसे कि घृत आदि हवि के द्वारा अग्नि (शान्त नहीं होता) अपितु और अधिक बढ़ता ही है ।

७. (तृष्णा बढ़ी होने पर) रत्नों से भरी हुई पृथिवी, सोना, पशु और स्त्रियाँ ये सभी एक भी मनुष्य के लिये पर्याप्त नहीं है; ऐसा विचार कर, मनुष्य शान्ति को धारण करे ।

८. हे मूर्ख ! धन-प्राप्ति की तृष्णा को त्याग दे, सद्बुद्धि को जागृत कर और मन में सन्तोष को धारण कर । अपने शुभकर्म से तू जितना धन प्राप्त करे, उसी से अपने मन को आनन्दित कर ।

९. सन्तोष निश्चय ही सुख का सर्वोत्तम साधन है, सन्तोष सर्वोत्कृष्ट सुख ह । सन्तोष से बढ़कर कुछ भी नहीं है । सन्तोष ही सदा प्रतिष्ठित रहता है ।

१०. मूर्ख लोग सदा असन्तोष में डूबे रहते हैं, जबकि बुद्धिमान् जन सन्तोष धारण करते हैं। तृष्णा का कोई अन्त नहीं है, अतः सन्तोष ही सर्वोत्तम सुख है ।

११. सन्तोष-रहित ब्राह्मण के तेज, विद्या, तप और कीर्ति; ये सब उसकी इन्द्रियों की चञ्चलता के कारण—नष्ट हो जाते हैं, और उसका ज्ञान भी क्षीण हो जाता है ।

—

तपः

१. ओ३म् अग्ने तपस्तप्यामहे, उप तप्यामहे तपः ।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ (अथर्व.७.६१.२)

२. तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ।
तेन सर्वानवाप्नोति, यान् कामान्मनसेच्छति ॥ (महाभा.शा.२३२.२२)

३. मासपक्षोपवासेन, मन्यन्ते यत्तपो जनाः ।
आत्मतन्त्रोपघातस्तु, न तपस्तत् सतां मतम् ॥ (महाभा.शा.२२१.४)

४. अन्तरा प्रातराशं च, सायमाशं तथैव च ।
सदोपवासी स भवेद्, यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः ॥
(महाभा.शा.२२१.१०)

५. दुराराध्यः स्वामी, तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो,
वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः ।
जरा देहं मृत्युर्हरति सकलं जीवितमिदं,
सखे नान्यच्छ्रेयो, जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥ (वैराग्य.५०)

---

१. हे सुपथदर्शक परमेश्वर ! हम तप तपते हैं और वेद शास्त्रों का श्रवण करते हुए, दीर्घ आयु को प्राप्त करते हुए तथा उत्तम मेधावी बनते हुए हम पुनरपि निरन्तर तप तपते हैं।

२. तप ही मनुष्य का परम कल्याणकारक है और तप का कारण मनःशान्ति और इन्द्रियों को वश में रखना है । मनुष्य जिन-जिन कामनाओं को मन से चाहता है, उन सबको वह उस तप के द्वारा प्राप्त कर लेता है ।

३. मांस अथवा पक्ष पर्यन्त उपवास (अन्नादि के त्याग) से जो मनुष्य, तप कर लिया ऐसा मानते हैं, वह सज्जनों की सम्मति में तप नहीं है, अपितु वह तो अपने शरीर को हानि पहुँचाना है ।

४. प्रातः भोजन और सांय भोजन के मध्य में जो बार-बार कुछ नहीं खाता है, वह नित्य का उपवासी है (यही भोजनविषयक तप है)

५. स्वामी (जीविकादाता) बड़ी कठिनाई से प्रसन्न किया जाता है और राजा लोग घोड़े के समान चञ्चल चित्तवाले होते हैं । उधर हम लोग महत्त्वाकांक्षा वाले हैं और मुक्ति रूपी सुमहान् पद की प्राप्ति हेतु हमने दृढ़ मन बना रखा है । इधर बुढ़ापा शरीर का और मृत्यु सम्पूर्ण जीवन का हरण कर रहे हैं । अतः हे मित्र ! विद्वान् के लिये इस संसार में तपस्या के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कल्याणकर नहीं है ।

६. तपसा देवा देवतामग्र आयन् तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन् ।
तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात्तपः परमं वदन्ति ॥ (तैआ.१०.६३.१)

७. देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥

८. अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ॥

९. मनःप्रसादः सोम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्, तपो मानसमुच्यते ॥ (महाभा.भी.४१.१४-१६)

१०. तपोमूलमिदं सर्वं, दैवमानुषकं सुखम् ।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं, तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥

११. यद् दुस्तरं यद् दुरापं, यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ (मनु.११.२३४,२३८)

---

६. पूर्वकाल में देवों ने (विद्वानों ने) तप के द्वारा देवत्व प्राप्त किया और ऋषियों ने तप के द्वारा दिव्य आनन्द प्राप्त किया । हम लोग तप के द्वारा बाह्य शत्रुओं को तथा स्वार्थ-परायणता क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं को दूर करें । तप में ही सर्वसाफल्य स्थित है । इसलिये तप को श्रेष्ठ कहते हैं ।

७. दिव्यगुणी जन, द्विज, आचार्य पिता-माता आदि और विद्वज्जन इनकी सेवा तथा सत्कार करना; पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा इन सबका अनुष्ठान शारीरिक तप कहा जाता है ।

८. अन्यों को उत्तेजित न करने वाला वचन बोलना, सत्य किन्तु प्रिय और हितकारक वचन बोलना तथा वेदादिशास्त्रों का अभ्यास एवं जप करना वाणी का तप कहलाता है।

९. मन की प्रसन्नता, शान्तस्वभाव, उत्तम चिन्तन-मनन, मन को वश में रखना और विचारों की पवित्रता, यह सब मानसिक तप कहा जाता है ।

१०. यह जो दिव्य सुख और सांसारिक सुख है, उस सबका मुख्य आधार तप है, इस सुख को प्रचलित रखने वाला भी तप है, और अन्त तक सुख देने वाला भी तप है।

११. जो विषय कठिनाई से पार करने योग्य हो, जो वस्तु कठिनाई से प्राप्तव्य हो, जो स्थान कठिनता से गन्तव्य हो और जो कर्म कठिनता से करने योग्य हो; वे सब तप के द्वारा सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि तप को कोई मात नहीं दे सकता – तप के द्वारा कुछ भी दुःसाध्य नहीं है ।

१२. तपसा महदाप्नोति, विद्यया चेति नः श्रुतम् ।
तपसैव चापनुदेद्, यच्चान्यदपि दुष्कृतम् ॥
१३. यद्यद्धि किञ्चित् सन्धाय, पुरुषस्तप्यते तपः ॥
सर्वमेतदवाप्नोति, विद्यया चेति नः श्रुतम् ॥
१४. दुरन्वयं दुष्प्रधर्षं, दुरापं दुरतिक्रमम् ।
सर्वं वै तपसाऽभ्येति, तपो हि बलवत्तरम् ॥

(महाभा.अनु.१२२.६-८)

—

स्वाध्यायः

१. यन्ति वा आप एत्यादित्य एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि ।
यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कुर्युरेवं हैव तदहर्ब्राह्मणो
भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते ।
तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ (शत.१५.५.८.१०)
२. आ हैव स नखाग्रेभ्यः, परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते, स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ (मनु.२.१६७)

---

१२. तप और विद्या के द्वारा मनुष्य महान् पद को प्राप्त कर लेता है, ऐसा हमने सुना है । जो अन्य भी दुष्कर्म या पाप हों, उन्हें भी मनुष्य तप से ही दूर कर सकता है ।

१३. जिस जिस वस्तु का लक्ष्य रख के मनुष्य तप तपता है, उस सबको वह तप और विद्या से प्राप्त कर लेता है, ऐसा हमने सुना है ।

१४. जो वस्तु कठिनता से मिलने योग्य हो, जिसको दबाना कठिन हो, जो कठिनाई से प्राप्त करने योग्य हो और जिससे आगे बढ़ना कठिन हो – उन सब में मनुष्य तप से सफल हो जाता है, क्योंकि तप सबसे बलवान् है ।

—

१. जल गतिशील है, सूर्य गति करता है, चन्द्रमा गति करता है, नक्षत्र गति करते हैं । जिस प्रकार ये दिव्यगुण वाले जल सूर्य आदि कभी गति न करें-अपना कार्य न करें (तो उसका परिणाम कितना दुःखद होगा) उसी प्रकार का आचरण ब्राह्मण उस दिन करता है, जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता ।

२. निश्चय ही वह द्विज पग के नख से लेकर शिखा तक परम तप तपता है, जो कि सामर्थ्यानुसार प्रतिदिन नियम से स्वाध्याय करता है, भले ही वह द्विज पुष्पमाला आदि से अलङ्कृत होकर ही ऐसा करता हो ।

३. बुद्धिवृद्धिकराण्याशु, धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत, निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ (मनु.४.१९)

४. सर्वान् परित्यजेदर्थान्, स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथा ऽध्यापयंस्तु, सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ (मनु.४.१७)

५. यथा यथा हि पुरुषः, शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति, विज्ञानं चास्य रोचते ॥ (मनु.४.२०)

६. अथातः स्वाध्यायप्रशंसा । प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान्त्साधयते, सुखं स्वपिति, परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः । प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान्ब्राह्मणमभि निष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशो लोकपक्तिम् । लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च ॥ (शत.११.५.७.१)

---

३. गृहस्थ प्रतिदिन शीघ्र बुद्धि की वृद्धि करने वाले, धन-प्राप्ति के उपाय बताने वाले और हित का उपदेश देने वाले शास्त्रों का और वैदिक प्रकरणों का अध्ययन करे ।

४. बुद्धिमान् मनुष्य उन सब पदार्थों और प्रवृत्तियों का त्याग कर दे, जो कि स्वाध्याय में विघ्न करने वाली हों । जिस किसी प्रकार से भी वह अध्यापन करता हुआ (अपने समय का सदुपयोग करे) । इसी में बुद्धिमान् मनुष्य के जीवन की सफलता है ।

५. जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्र का सम्यक् प्रकार से स्वाध्याय करता जाता है, वैसे-वैसे ही वह अनेक पदार्थों को विशेष रूप से जानता जाता है और उसकी, विवेकयुक्त ज्ञान में रुचि बढ़ती जाती है।

६. अब स्वाध्याय की प्रशंसा की जा रही है । स्वाध्यायशील को स्वयं पढ़ना तथा दूसरों को पढ़ाना प्रिय लगते हैं, वह एकाग्रमन वाला हो जाता है, वह पराधीन नहीं रहता, प्रतिदिन वह लक्ष्यों को सिद्ध करता जाता है, सुखपूर्वक सोता है, अपना उत्तम चिकित्सक बन जाता है । इन्द्रिय-संयम, आत्माभिमुखता, बुद्धि का विकास और कीर्त्ति के कारण लोक-व्यवहार में निर्विघ्नता ये वैशिष्ट्य उसको प्राप्त हो जाते हैं । उसकी बुद्धि विकसित होकर अध्ययन-अध्यापन-यजन-याजन आदि चारों कर्मों से उसे युक्त कर देती है। और उसमें ईश्वर के स्वभाव तथा ज्ञानानुसार आचरण उत्पन्न कर देती है। उसकी कीर्त्ति और लोकव्यवहार-कुशलता विस्तृत होती है। स्वाध्यायशील के व्यवहार से आकृष्ट हुए लोग उसका सत्कार और दान के द्वारा तथा उसे सब प्रकार के कष्टों से बचाकर और उसके प्राणों की रक्षा करके उसका पालन करते हैं । —

मोक्षः

१. ओ३म् त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥ (ऋ.७.५९.१२)

२. नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥
(ऋ.१०.६३.४)

३. यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि ।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् ॥
(ऋ.५.४.१०)

४. मोक्षो रजस्तमोऽभावाद्, बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥

---

१. तीनों तत्त्वों और तीनों कालों के ज्ञाता, उत्तम कीर्त्तिवाले और सबकी पुष्टि को बढ़ाने वाले परमेश्वर की हम उपासना करते हैं । जैसे पका हुआ खरबूजा अपने बन्धन (वृन्त) से स्वतः अलग हो जाता है, वैसे ही हम देहादि के बन्धन से मुक्त हो जायँ– अलग हो जायँ; किन्तु मरणादिरहित मोक्षावस्था से अलग न होवें ।

२. अन्नमय शरीर आदि से पृथक् आत्मतत्त्व के साक्षात्कर्त्ता, प्रमाद-रहित अर्थात् वैराग्यवान्, योग्य अर्थात् शम-दम-तितिक्षा आदि गुणों से सम्पन्न और मुमुक्षा रूपी महती दिव्य कामना वाले जन मोक्ष को प्राप्त होते हैं । वे लोग दिव्य ईश्वरीय ज्योति में रमण करते हुए, दिव्य-ज्ञान-सम्पन्न तथा निष्पाप होकर अपने सम्पूर्ण कल्याण के लिये परमेश्वर के दिव्यानन्दवर्षक स्वरूप में निवास करते हैं ।

३. हे सभी उत्पन्न और प्रसिद्ध पदार्थों में विद्यमान परमेश्वर ! जो मैं यह मरणधर्मा-शरीरधारी मनुष्य, कभी शरीर धारण न करने के कारण सदा मरण-धर्म-रहित तुझ ईश्वर को स्तुति भरे हृदय से पुकारता हूँ । तो हे ज्ञानप्रकाशमय प्रभो ! आप हम में यश स्थापित करो । आपकी कृपा से हम पुत्रपौत्रादि-सहित मोक्ष को प्राप्त करें ।

४. रजोगुण और तमोगुण के अभाव हो जाने पर और बलवान् कर्मों के भली प्रकार क्षीण हो जाने पर मोक्ष होता है । कर्मों के संसर्ग से सर्वथा वियोग हो जाने के कारण इसी को 'अपुनर्भव (बारबार न जन्मना) भी कहते हैं ।

५. सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम् ।
व्रतचर्योपवासश्च, नियमाश्च पृथग्विधाः ॥
६. धारणं धर्मशास्त्राणां, विज्ञानं विजने रतिः ।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ॥
७. कर्मणामसमारम्भः, कृतानाञ्च परिक्षयः ।
नैष्कर्म्यमनहङ्कारः, संयोगे भयदर्शनम् ॥
८. मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्व-परीक्षणम् ।
एतत्तदेकमयनं, मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम् ॥ (च.शा.१.१४२-१४६)
९. वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च, निःश्रेयसकरम्परम् ॥ (मनु.१२.८३)
१०. मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति, त्यजातिदूराद् विषयान् विषं यथा ।
पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥
(विवेक. ८४)
११. मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु ।
मोहो विनिर्जितो येन, स मुक्तिपदमर्हति ॥ (विवेक.८७)

५-८. सत्पुरुषों की सुसङ्गति, दुष्ट पुरुषों के सङ्ग का त्याग, अहिंसादि व्रतों का आचरण, भोजन में संयम, अनेक प्रकार के शौच सन्तोष आदि नियमों का अनुष्ठान; धर्मशास्त्रों का धारण, आत्मा आदि का विशेष ज्ञान, एकान्त में रुचि, शब्दस्पर्शादि विषयों में अरुचि, मुक्ति-हेतु प्रयत्न, अत्यन्त धैर्य, नाना कर्मों का आरम्भ न करना, आरम्भ किये हुए कर्मों को समाप्त करना, सांसारिक कर्मों में अप्रवृत्ति, अहङ्कार का अभाव, संयोग में भय का दर्शन, मन और बुद्धि की एकाग्रता और पुरुषार्थ-चतुष्टय तथा मूल तत्त्वों का परीक्षण करना; इन सब उपायों को ही मुक्तावस्थाप्राप्त ज्ञानियों ने मोक्ष का एकमात्र मार्ग बताया है ।

९. वेदों का अभ्यास, तपस्या, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा और आचार्य माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा; ये मोक्ष-प्राप्ति कराने वाले श्रेष्ठ साधन हैं ।

१०. हे मनुष्य ! यदि तुझे मोक्ष की इच्छा है, तो विषयों को वैसे ही दूर से त्याग दे, जैसे विष को त्यागते हैं और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शान्ति तथा दम इनको अमृत के समान सदा श्रद्धापूर्वक सेवन कर ।

११. मुक्ति की इच्छा वाले मनुष्य के लिये उसका शरीर आदि में मोह होना ही महामृत्यु के समान है । जिसने मोह को जीत लिया, वह मुक्ति के पद को पा सकता है ।

१२. संसिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः ।
बहिरन्तः - सदानन्दरसास्वादनमात्मनि ॥ (विवेक.४१९)

१३. देहस्य मोक्षो न मोक्षो, न दण्डस्य कमण्डलोः ।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥ (विवेक.५५९)

१४. माद्यन्मित्रकलत्रकुतुपश्रेणीरणच्छृङ्खला-
बन्धध्वस्तगतेर्निरुद्धमनसः क्रोधादिविद्वेषिभिः ।
आस्तां ज्ञानसुधारसः किमपरं संसारकारागृहे,
क्रूरक्रोडनिवासिनो न सुलभा वार्त्ताऽपि मोक्षं प्रति ॥ ( )

१५. आदरेण यथा स्तौति, धनवन्तं धनेच्छया ।
तथा चेद् विश्वकर्त्तारं, को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ( )

१६. आयुः कल्लोल-लोलं, कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः सङ्कल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः ।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥ ( )

---

१२. सिद्धि को प्राप्त जीवन्मुक्त योगी को जिस महान् फल की प्राप्ति होती है, वह यह है कि उसको जागृत-अवस्था में और समाधि-अवस्था में परमानन्द-रस की सदा अनुभूति रहती है ।

१३. देह का छूट जाना अथवा दण्ड और कमण्डलु को छोड़ देना; इसका नाम मोक्ष नहीं है, अपितु अविद्या रूपी हृदय की ग्रन्थि से छुटकारा पाना ही असली मोक्ष है ।

१४. मतवाले मित्रों, स्त्री, पुत्र और पात्रादि की झनझनाती सांकल के बन्धन से अवरुद्ध प्रगतिवाले, क्रोध आदि शत्रुओं से जकड़े हुए मन वाले और संसार रूपी जेल की कठोर गोद में रहने वाले मनुष्य के द्वारा ज्ञान रूपी अमृत का आस्वादन करना तो दूर, उसके लिये मोक्ष की चर्चा करना भी सुलभ नहीं है ।

१५. मनुष्य धन की लालसा से जितने आदर से धनवान् की स्तुति करता है उतने आदर से यदि वह विश्वकर्त्ता परमेश्वर की स्तुति करे तो कौन संसार-बन्धन से मुक्त न हो जाये।

१६. जीवन तरङ्ग के समान चञ्चल है, जवानी की शोभा भी कुछ दिन ही टिकने वाली है, संसार के पदार्थ एवं विषय संकल्पों के समान क्षणिक हैं, भोगों के समूह भी वर्षाऋतु की बिजली के समान अल्पसमय के हैं और प्रिय पत्नी द्वारा कण्ठालिङ्गनपूर्वक दर्शाया गया प्रेम भी चिरस्थायी नहीं है । अतः हे मनुष्यो ! संसार रूपी भय-सागर को पार करने के लिये परब्रह्म में अपने चित्त को तल्लीन कर दो ।

१७. रागिण्यपि विरागिण्यः, स्त्रियस्तासु रमेत कः ।
अहं च कलये मुक्तिं, या विरागिणि रागिणी ॥ ( )

१८. आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन, द्वितीयो रागसंक्षयात् ।
कृच्छ्रत्रयात् तृतीयस्तु, व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् ॥ ( )

—

परोपकारः

१. श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणा-पराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन। (नीति .७२)

२. पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति,
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।
नाऽभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति,
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ॥ (नीति.७४)

३. भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः, स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥
(नीति.७१)

---

१७. राग (प्रेम) रखने वाले के प्रति भी विराग (रूखापन) रखने वाली स्त्रियों में कौन बुद्धिमान् मनुष्य आसक्त होगा ? मैं तो उस मुक्ति को अपनाना चाहता हूँ जो विराग (विषयों से विमुखता) वाले के प्रति राग (अनुकूलता) रखती है ।

१८. प्रारम्भ में मोक्ष ज्ञान से होता है, तब द्वितीय मोक्ष राग के क्षय से होता है और अन्त में तृतीय मोक्ष तीनों दुःखों के छूटने से होता है—यह मोक्ष का लक्षण कहा गया है ।

—

१. करुणा से परिपूर्ण परोपकारी जनों के कान शास्त्रज्ञान-श्रवण से सुशोभित होते हैं न कि कुण्डलों से, हाथ दान से शोभित होते हैं न कि कङ्कनों से और उनका शरीर परोपकार करने से सुशोभित होता है न कि चन्दनलेप से ।

२. सूर्य कमल-समूहों को विकसित करता है, चन्द्रमा कुमुदिनियों के समूहों को प्रफुल्लित करता है और मेघ भी बिना मांगे ही जल देता है । इसी प्रकार सज्जन भी परोपकार के कार्यों में स्वतः ही लगे रहते हैं ।

३. वृक्ष फल लगने पर नीचे की ओर झुक जाते हैं और नये नये जलों से भरपूर बादल भी पृथिवी की ओर पर्याप्त नीचे तक लटक जाते हैं । वास्तव में सत्पुरुष सम्पत्ति के आने पर नम्र हो जाते हैं, क्योंकि परोपकारी जनों का तो यह स्वभाव ही है ।

उद्यम:

१. ओ३म् उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमावदासि ॥
(अ.८.१.६)

२. उद्यमेन हि सिध्यन्ति, कार्याणि न मनोरथै: ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य, प्रविशन्ति मुखे मृगा: ॥ (हि.प्र.३६)

३. आलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महान् रिपु: ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नाऽवसीदति ॥ (नीति.८७)

४. निपानमिव मण्डूका:, सर: पूर्णमिवाण्डजा: ।
सोद्योगं नरमायान्ति, विवशा: सर्वसम्पद: ॥ (हि.प्र.१७२)

५. पूर्वजन्मकृतं कर्म, तद्दैवमिति कथ्यते ।
तस्मात् पुरुषकारेण, यत्नं कुर्यादतन्द्रित: ॥ (हि.प्र. ३२)

६. न दैवमिति सञ्चिन्त्य, त्यजेदुद्योगमात्मन: ।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽऽप्तुमर्हति ॥

---

१. हे मनुष्य ! तुम्हारे जीवन में उन्नति ही हो अवनति कभी न हो – तुम आगे बढ़ो पीछे कभी न हटो । प्रगतिमय जीवन के लिये ही मैं तुम्हारे अन्दर दक्षता स्थापित करता हूँ । तुम इस अनाशवान् तथा आनन्दमय जीवन-रथ पर भली प्रकार आरोहण करो और उत्तम स्तुतिकर्त्ता बनकर इस ज्ञान का प्रवचन करो ।

२. समस्त कार्य उद्यम (पुरुषार्थ) से ही सिद्ध होते हैं, केवल मन:कामनाओं से नहीं । सोये हुए सिंह के मुख में हरिण अपने आप प्रविष्ट नहीं हो जाते (अपितु तदर्थ उसे बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है ।)

३. आलस्य मनुष्यों का शरीर में ही रहने वाला बड़ा शत्रु है । उद्यम सदृश, मनुष्य का अन्य कोई बन्धु नहीं है, जिसे करके मनुष्य कभी दु:खी नहीं होता ।

४. जैसे मेंढ़क पोखरे की ओर तथा बतख आदि पक्षी भरे हुए जलाशय की ओर स्वत: चले आते हैं, वैसे ही पुरुषार्थी मनुष्य के पास सारे ऐश्वर्य स्वत: खिंचे चले आते हैं।

५. जो पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म है वही दैव (भाग्य) कहलाता है । इसलिये मनुष्य पुरुषार्थ के सहारे निरालस होकर सदा प्रयत्न करे ।

६. मनुष्य 'भाग्य ही सब कुछ है' ऐसा विचार करके अपने पुरुषार्थ का त्याग न करे । बिना पुरुषार्थ के तो मनुष्य तिलों से तैल भी प्राप्त नहीं कर सकता ।

७. उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्,
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति, कोऽत्र दोषः ? ॥ (हि.प्र. ३१)

८. दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुष-लक्षणम् ।
कैरजीर्णभयाद् भ्रातर्भोजनं परिहीयते ॥ (हि.सु.५७)

—

यशः

१. **ओ३म् यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।**
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ (अथर्व.६.३९.३)

२. **सत्ये तपसि शौर्ये च, यस्य न प्रथितं यशः ।**
विद्यायामर्थलाभे वा, मातुरुच्चार एव सः ॥ (महाभा.१३३.२३-२४)

३. **मांस-मूत्र-पुरीषास्थि-निर्मितेऽस्मिन् कलेवरे ।**
विनश्वरे विहायाऽऽस्थां, यशः पालय मित्र मे ॥ (हि.मि.४७)

---

७. पुरुषार्थी श्रेष्ठ-मनुष्य को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है, 'भाग्य ही दे देगा' ऐसे वचन तो कायर पुरुष बोला करते हैं । हे मनुष्य ! भाग्य का सहारा त्यागकर अपने पूरे सामर्थ्य से पुरुषार्थ कर । प्रयत्न करने पर भी कार्य सिद्ध न हो, तो विचार कर कि प्रयत्न में क्या कमी रही है ?

८. दोषों के भय से कार्यारम्भ न करना, यह तो कायर पुरुषों की पहिचान है । भाई ! अजीर्ण होने के भय से कौन मनुष्य भोजन त्याग देता है ?

—

१. जैसे ऐश्वर्यवान् राजा यश का इच्छुक होता है, सेनापति यशस्काम होता है और शान्तमना मन्त्री भी यशस्काम होता है, वैसे मैं भी यशस्काम हूँ । मैं सब प्राणियों में सर्वाधिक यशस्वी बन जाऊँ ।

२. सत्य में, तप में, पराक्रम में, विद्या में अथवा धन-प्राप्ति में जिसका यश नहीं फैला, वह मनुष्य न होकर मानो अपनी माता का मल ही है ।

३. हे मित्र ! मांस, मूत्र, मल और हड्डियों से बने इस मेरे नाशवान् शरीर के प्रति अपनी आस्था को त्यागकर मेरे यश की रक्षा करो ।

४. यदि नित्यमनित्येन, निर्मलं मलवाहिना ।
यशः कायेन लभ्येत, तदा लब्धं भवेन्न किम् ? ॥ (हि.मि.४८)

५. देहे पातिनि का रक्षा, यशो रक्ष्यमपातवत् ।
नरः पतितकायोऽपि, यशःकायेन जीवति ॥ (भोज.५३)

६. निमेषमात्रमपि ते, वयो गच्छन्न तिष्ठति ।
तस्माद्देहेष्वनित्येषु, कीर्त्तिमेकामुपार्जये: ॥ (भोज.५५)

७. ओ३म् यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि ।० ॥
यथा यशः पृथिव्यां यथाऽस्मिञ्जातवेदसि ।० ॥
यथा यशः कन्यायां यथाऽस्मिन् सम्भृते रथे ।० ॥
यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः ।० ॥
यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः ।० ॥
यथा यशो यजमाने यथास्मिन्यज्ञ आहितम् ।० ॥
यथा यशो प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्त्तिं भूतिं नियच्छतु तेजसा मा
समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ (अथर्व.१०.४.१८-२४)

---

४. यदि अस्थायी और मल से भरे शरीर के त्याग के द्वारा चिरस्थायी और निर्मल (धवल) यश की उपलब्धि हो जाय ,तो फिर क्या अलभ्य रहेगा ?

५. अवश्य नष्ट होने वाले शरीर के विषय में रक्षा की चिन्ता क्या करना, अपितु कभी न नष्ट होने वाले यश की रक्षा करनी चाहिये । शरीर नष्ट हो जाने पर भी मनुष्य यश रूपी शरीर से जीवित रहता है ।

६. हे मनुष्य ! तेरी आयु निरन्तर बीतती हुई क्षण भर के लिये भी रुकती नहीं है, अतः इन अनित्य शरीरों के विषय में (विशेष चिन्ता न करता हुआ) एकमात्र यश की कमाई कर ले ।

७. जैसे चन्द्रमा, प्राणिदर्शनशक्ति का आधार सूर्य, पृथिवी, अग्नि, कन्या, सुसज्जित रथ, सोमपान, मधुपर्क, अग्निहोत्र, वषट्कार, यजमान, यज्ञ, प्रजापति और परमेष्ठी में यश है; उसी प्रकार का यश, ख्याति और ऐश्वर्य मुझे वरणीय तथा वाक्य-शक्तिदाता परमेश्वर प्रदान करे । वह मुझे तेज से पूरित कर दे और यश से कान्तिमान् कर दे ।

—

संघटनम् (संगठन)

१. ओ३म् संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते ।।

२. समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि ।।

३. समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति ।। (ऋ.१०.१९१.२-४)

४. सम्भोजनं सङ्कथनं, सम्प्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि, न विरोधः कदाचन ।। (महाभा.उ.३९.२४)

५. अल्पानामपि वस्तूनां, संहतिः कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ।। (हि.मि.३५)

६. संहतिः श्रेयसी पुंसां, स्वकुलैरल्पकैरपि ।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ।। (हि.मि. २६)

---

१. हे मनुष्यो ! तुम सब एक साथ मिलकर भली प्रकार से प्रगति करो, तुम सब एक सी वाणी बोलो । तुम्हारे मन एक सी समझ अपनावें । जैसे पूर्व के दिव्य आत्मा सेवनीय परमात्मा की ज्ञान-पूर्वक उपासना करते थे, वैसे तुम भी करो ।

२. हे मनुष्यो ! तुम्हारे इन (सह निवासियों) का भी मननचिन्तन एक समान हो, इनकी सभा समिति समान हो और इनका मन तथा चित्त भी एक जैसा हो । मैं तुमको एक से मन्त्रज्ञान से मन्त्र-युक्त बनाता हूँ और एक समान देय पदार्थों से सम्पन्न करता हूँ।

३. हे मनुष्यो ! तुम्हारे सङ्कल्प एक समान हों, तुम्हारे हृदय एक से हों और तुम्हारे मन इतने एक समान हों, कि तुम्हारा उत्तम एकीभाव सदा बना रहे ।

४. ज्ञाति (स्ववर्ग) के लोगों के साथ सह-भोजन तथा साथ वार्त्तालाप करना चाहिये और उनके साथ प्रेम रखना चाहिये तथा उनसे विरोध कभी नहीं करना चाहिये ।

५. तुच्छ सी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का भी एकीभाव (संगठन) कार्य को सिद्ध करने वाला होता है । तिनके भी यदि (रस्सी के रूप में) कई गुने हो जाते हैं, तो उनसे मदमस्त हाथी भी बांध दिये जाते हैं ।

६. अपने कुल में उत्पन्न थोड़े से भी और कम गुणों वाले भी मनुष्यों का संगठन कल्याणकारी है। (उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ।) चावल यदि (तुच्छ से) तुषों से भी रहित होते हैं, तो वे उग नहीं सकते ।

७. अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥

८. धूमायन्ते व्यपेतानि, ज्वलन्ति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव, ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ (महाभा.उ.३६.६०)

९. न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं, न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति, न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥

१०. न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं, योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ॥
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं, न विद्यते किञ्चिदन्यद् विनाशात् ॥
(महाभा.उ.३६.५६,५७)

—

कृतज्ञता

१. गोघ्ने चैव सुरापे च, चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः, कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥
(वाल्मी.कि.३४.१२)

---

७. जो वृक्ष एक साथ सङ्घ रूप में अच्छी प्रकार स्थिर होते हैं, वे एक दूसरे के सहारे से अतितीव्र झंझावातों को भी सह लेते हैं ।

८. हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! भाई बन्धु; जलते हुए अग्रभाग वाले काष्ठों के समान अलग रहने पर धुँआ देते हैं (परेशान होते हैं) और साथ रहने पर प्रज्वलित हो जाते हैं (हर्ष रूपी ज्योति को प्राप्त करते हैं) ।

९-१०. भेदभाव को प्राप्त हुए भाई बन्धु कभी भी धर्म का आचरण नहीं कर पाते, न वे सुख पाते हैं, न गौरव को प्राप्त करते हैं और न ही उन्हें शांति अच्छी लगती है । कही गई हित की बात भी उन्हें अच्छी नहीं लगती तथा उनका योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा) भी नहीं हो पाता । हे राजन् ! इस प्रकार भेदभाव को प्राप्त हुए भाई-बन्धुओं की तो विनाश के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है ।

—

१. गोहत्यारे, शराबी, चोर और व्रत भङ्ग करने वाले का प्रायश्चित्त सत्पुरुषों ने बताया है, किन्तु कृतघ्न (किये उपकार को न मानने वाले) का कोई प्रायश्चित्त नहीं है । (क्योंकि यह तो महापाप है।)

२. कृतार्थाः सुकृतार्थानां, मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः, कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥ (वाल्मी.कि.३०.७३)

३. पूर्वं कृतार्थो मित्राणां, न तत्प्रति करोति यः ।
कृतघ्नः सर्वभूतानां, स वध्यः प्लवगेश्वर ॥ (वाल्मी.कि.३४.१०)

—

सुखानि

१. अर्थागमो नित्यमरोगिता च, प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या, षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥
(महाभा.उ.३३.८७)

२. आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः, सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः ।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः, षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ।
(महाभा.उ.३३.९४)

३. अष्टाविमानि हर्षस्य, नवनीतानि भारत ।
वर्त्तमानानि दृश्यन्ते, तान्येव स्वसुखान्यपि ॥

---

२. जो अपने प्रति उत्तम उपकार करने वाले मित्रों के प्रति कृतज्ञ नहीं होते, उन कृतघ्न मनुष्यों को तो मरने के बाद (गिद्ध कुत्ते आदि) मांसाहारी भी नहीं खाते ।

३. हे वानरवर्ग के राजन् ! जो अपने, पूर्व में उपकार करने वाले मित्रों का प्रत्युपकार नहीं करता, वह सर्वप्राणियों के प्रति कृतघ्न है और अतएव वह वध के योग्य है ।

—

१. हे राजन् ! धन की आय, सदा स्वस्थ रहना, प्रिय आचरण वाली और प्रियवचन बोलने वाली पत्नी, आज्ञाकारी पुत्र, धन पैदा करने वाली जीविका और उत्तम ज्ञान ये छः इस मनुष्य लोक के सुख हैं ।

२. हे राजन् स्वास्थ्य, ऋणरहित होना, व्यर्थ घर से बाहर परदेश में न रहना, सत्पुरुषों की सङ्गति, अपने विश्वास की जीविका और निर्भय हो कर निवास करना; ये छः इस मनुष्य-लोक के सुख हैं ।

३-५. हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! आगे कही जाने वाली आठ वस्तुएं हर्ष का सार हैं और ये ही वर्त्तमान जीवन के सुख हैं । वे ये हैं – मित्रों के साथ मेलमिलाप, धन की पुष्कल

४. समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वङ्गो, (दाम्पत्ये चैव नैपुणी) ॥
५. समये च प्रियालापः, स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च, पूजा च जनसंसदि ॥
(महाभा.उ.३३.१०१-१०३)
६. अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः, पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं, न सेवते यः स सुखी सदैव ॥
(महाभा.उ.३३.११३)
७. यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते, नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ (योग.व्या.)
८. समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो, निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥
(मैत्रा.प्र.६.३४)

प्राप्ति, पुत्र का आलिङ्गन, दाम्पत्य-जीवन में निपुणता, समय पर प्रियवचन बोलना, अपने वर्ग के लोगों में विशेष उन्नति करना, अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति और जनसभा में सम्मान पाना ।

६. जो व्यर्थ के परदेशवास, पापियों से मेलमिलाप, परस्त्रियों से सम्बन्ध, आडम्बर, अभिमान, चोरी, चुगलखोरी और मदिरापान का सेवन नहीं करता; वह सदा ही सुखी रहता है ।

७. जो संसार में सामान्य कामनाओं का सुख है और जो विशेष दिव्य सुख है, ये दोनों प्रकार के सुख, तृष्णानाश से उत्पन्न सुख के सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं हैं ।

८. समाधि के द्वारा जिसने अपने अविद्यादि मलों को नष्ट कर दिया है और जिसने अपने चित्त को आत्मा में स्थिर कर लिया है, ऐसे व्यक्ति को जो सुख होता है उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता, उसका तो स्वयं ही अन्तःकरण द्वारा अनुभव किया जाता है ।

—

सभा

१. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति, सत्यं न तद् यच्छलमभ्युपैति ॥
(महाभा.उ.३५.५८)

२. धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण, सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति, विद्धास्तत्र सभासदः ॥ (मनु.८.१२)

३. सभां वा न प्रवेष्टव्यं, वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि, नरो भवति किल्विषी ॥ (मनु.८.१३)

४. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण, सत्यं यत्राऽनृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां, हतास्तत्र सभासदः ॥ (मनु.८.१२)

५. त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की, नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे, परिषत् स्याद् दशावरा ॥ (मनु.१२.१११)

६. अव्रतानाममन्त्राणां, जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां, परिषत्त्वं न विद्यते ॥ (मनु.१२.११४)

---

१. वह सभा सभा नहीं है जहाँ वृद्ध न हों, वे वृद्ध वृद्ध नहीं हैं जो धर्म की बात नहीं कहते, वह धर्म धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य सत्य नहीं है जो छल का सहारा लेता हो ।

२. जिस सभा में धर्म अधर्म के द्वारा बींधा जाता है–छिन्न-भिन्न किया जाता है और वहाँ बैठे सभासद् यदि उस अधर्म रूपी कांटे को नहीं निकाल फेंकते, तो वे सभासद् ही उस अधर्म से पीड़ित हो जाते हैं ।

३. या तो सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिये और यदि प्रवेश किया जाय, तो उचित सत्य ही बोलना चाहिये । सत्य को न कहने वाला अथवा सत्य से उलटे असत्य को कहने वाला मनुष्य पापी बनता है ।

४. जिस सभा में, उपस्थित सभासदों के समक्ष धर्म अधर्म के द्वारा और सत्य असत्य के द्वारा मारा जाता है, वहाँ के सभासद् मरे हुए के तुल्य हैं ।

५. ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी, न्यायशास्त्र का ज्ञाता, मीमांसाशास्त्र का ज्ञाता, निरुक्त का ज्ञाता, धर्मशास्त्र का ज्ञाता, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ; इन दस प्रकार के लोगों से सभा का गठन करना चाहिये ।

६. व्रतविहीन, वेदशास्त्र-ज्ञानरहित और उत्तम मन्त्रणा करने में असमर्थ तथा जातिमात्र से अपने को बड़ा मानने वाले हजारों मनुष्यों की भी भीड़ का नाम सभा नहीं है ।

तेजस्विता

१. **ओ३म् तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,**
बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु.१९.९)

२. **दानमध्ययनं यज्ञस्तपो ह्रीरार्जवं दमः ।**
एतैर्वर्धयते तेजः, पाप्मानं चापकर्षति ॥ (महाभा.शा.२३५.७)

३. **हस्ती स्थूलतरः स चाङ्कुशवशः किं हस्तितुल्योऽङ्कुशो**
वज्रेणाभिहताः पतन्ति गिरयः, किं वज्रतुल्यो गिरिः ।
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः, किं दीपमात्रं तमः,
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ॥ ( )

४. **सम्प्राप्तमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति ।**
कस्तस्य पौरुषेणार्थो, महताऽप्यल्पचेतसः ॥ (वाल्मी.यु.११५.६)

५. **ज्वलितं न हिरण्यरेतसं, चयमास्कन्दति भस्मनां जनः ।**
अभिभूतिभयादसूनतः, सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः । (किरा.२.२०)

---

१. हे परमेश्वर ! आप तेजोमय हैं मुझ में तेज स्थापित कीजिये, आप पराक्रमशाली हैं मुझ में पराक्रम स्थापित कीजिये, आप बलवान् हैं मुझ में बल भर दीजिये, आप ओजस्वी हैं मुझमें ओज स्थापित कीजिये, आप मन्युमय हैं मुझमें मन्यु (दुष्टों पर रोष) स्थापित कीजिये और आप सहनशील हैं मुझमें सहनशक्ति भरिये ।

२. दान, अध्ययन, यज्ञ, तप, लज्जा, सरलता और इन्द्रियनिग्रह; इनसे तेज बढ़ता है और वह तेज पाप को भगा देता है ।

३. हाथी बहुत मोटा होता है किन्तु वह अङ्कुश के वश में हो जाता है, तो क्या अङ्कुश हाथी जितना मोटा होता है ? वज्र के प्रहार से पर्वत टूट पड़ता है, तो क्या पर्वत वज्र जितना ही होता है ? और दीपक के प्रज्वलित हो जाने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, तो क्या अन्धकार केवल दीपक जितना ही होता है ? वास्तव में बात यह है, कि जिसमें तेज होता है वही बलवान् होता है केवल मोटे या विशाल पदार्थों में बल की सम्भावना विश्वसनीय नहीं है ।

४. अपने किये गये अपमान का जो मनुष्य अपने तेज से निराकरण नहीं करता, उस निर्बुद्धि मनुष्य के महान् पौरुष से क्या लाभ ?

५. जलते हुए अग्नि को नहीं अपितु निस्तेज राख के ढेर को ही मनुष्य रौंद सकता है । अतएव स्वाभिमानी जन पराजय की सम्भावना दिखने पर सरलता से अपने प्राणों को त्याग देते हैं, किन्तु अपने तेज को कभी नहीं त्यागते (पराजित रूप में जीवित रहकर अपने तेज को कलङ्कित नहीं करते) ।

६. सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां, न खलु वयस्तेजसां हेतुः ॥ (नीति.३८)

सत्सङ्गतिः

१. जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिं,
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ (नीति.२३)

२. काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम् ।
तथा सत्सन्निधानेन, मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ (हि.प्र.४१)

उत्साहः

१. उत्साहो बलवानार्य ! नास्त्युत्साहात् परं बलम् ।
सोत्साहस्य हि लोकेषु, न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥

२. उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।
उत्साहमात्रमाश्रित्य, प्रतिलप्स्याम जानकीम् ॥
(वाल्मी.कि.१.१२१,१२२)

---

६. सिंह शिशु-अवस्था वाला होते हुए भी मद से मलिन कनपटियों वाले मस्त हाथियों पर टूट पड़ता है । यह तो मनस्वियों का स्वभाव ही है । निश्चय ही आयु, तेजस्विता का कारण नहीं है ।

—

सत्सङ्गति

१. सत्सङ्गति बुद्धि की जड़ता को हर लेती है, वाणी में सत्य को सींचती है, सम्मान को बढ़ाती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और सब दिशाओं में यश को फैलाती है । इस प्रकार सत्सङ्गति मनुष्यों के कौन से कार्य को सिद्ध नहीं करती है ?

२. कांच सोने के सम्पर्क से पन्ने की सी आभा को धारण कर लेता है, वैसे ही सज्जनों की सङ्गति से मूर्ख मनुष्य भी निपुणता प्राप्त कर लेता है ।

—

उत्साह

१-२. (वन में लक्ष्मण का राम के प्रति कथन–) हे श्रेष्ठस्वभाव (राम) ! उत्साह बड़ा बलवान् है । उत्साह से बढ़कर और कोई बल नहीं है । उत्साह-सम्पन्न मनुष्य के लिये संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है । उत्साही लोग कर्मों के करने में कभी ढीले नहीं पड़ते हैं । हम उत्साह का ही सहारा लेकर सीता को पुनः प्राप्त कर लेंगे ।

—

कालमहत्त्वम्

१. न श्वःश्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ॥ (शत.१.२.१.४)

२. श्वःकार्यमद्य कुर्वीत, पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः, कृतं वाऽस्य न वा कृतम् ॥

३. अद्यैव कुरु तच्छ्रेयो, मा त्वां कालोऽति गान्महान् ।
को हि जानाति कस्याद्य, मृत्युकालो भविष्यति ॥
(महाभा.शा.२७७.१३,१४)

४. काव्यशास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा ॥ (हि.मि.१)

—

जीवितसाफल्यम्

१. यस्य दानजितं मित्रं, शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपान-जिता दाराः, सफलं तस्य जीवितम् ॥ (महाभा.उ.३९.४२)

कालमहत्त्व

१. (मैं कल कर लूंगा, कल कर लूंगा) इस प्रकार कल की बाट न देखे । क्योंकि कौन ऐसा है, जो मनुष्य के कल को जानता हो ?

२. कल करने योग्य कार्य को मनुष्य आज ही कर ले और दोपहर बाद करने योग्य को दोपहर से पूर्व ही कर ले । क्योंकि मृत्यु किसी की यह प्रतीक्षा नहीं करती, कि इसने अमुक कार्य कर लिया है कि नहीं ?

३. हे मनुष्य ! जो कल्याणकारी कार्य है उसे तू आज ही कर ले; ऐसा न हो कि यह महान् काल ऐसे ही बीत जाये । कौन जानता है कि किसका आज मरण-समय होगा।

४. बुद्धिमानों का समय उत्तम काव्यों और शास्त्रों के चिन्तन में व्यतीत होता है । किन्तु मूर्खों का समय बुरी बुरी आदतों में, सोने में अथवा लड़ाई-झगड़े में बीतता है ।

—

जीवितसाफल्य

१. जिसने अपने मित्रों को दान के द्वारा जीत लिया है, युद्ध में शत्रुओं को जीत लिया है और खानपान आदि के द्वारा पत्नी आदि को जीत लिया है, उसका जीवन सफल है।

२. येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥
(नीति.१३)

—

मदनिषेधः

१. अनृतं पाप्मा तमः सुरा (शत.५.१.२.१०)

२. न हि धर्मार्थसिद्ध्यर्थं, पानमेवं प्रशस्यते ।
पानादर्थश्च कामश्च, धर्मश्च परिहीयते ॥ (वाल्मी.कि.३३.४६)

३. बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं, मदकारि तदुच्यते ।
तमोगुणप्रधानं च, यथा मद्यं सुरादिकम् ॥ (शाङ्र्ग.पू.४.२१,२२)

विवेकः

१. सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥
(किरा.२.३०)

---

२. जिनके जीवन में न विद्या है, न तपस्या है, न दान की प्रवृत्ति है, न ज्ञान है, न सदाचार है, न सद्गुण है और न धर्म है; वे पृथिवी पर भाररूप हैं और इस मनुष्य-लोक में मनुष्य के रूप में पशु बने हुए विचरण करते है ।

—

मदनिषेध

१. असत्यभाषणादि पाप है और सुरापान आदि नशा अन्धकार (महादुःखदायी पाप रूप) है ।

२. अतः सुरापान करना धर्म और अर्थ की सिद्धि के लिये उचित नहीं माना गया है । सुरापान करने से मनुष्य के धन, कामनाएँ और धर्म उससे दूर हो जाते हैं ।

३. जो द्रव्य बुद्धि का नाश करता है वह नशीला पदार्थ कहलाता है । नशीला पदार्थ तमोगुण-प्रधान होता है । जैसे कि मद्य (शराब), सुरा आदि ।

विवेक

१. मनुष्य, अकस्मात् ही किसी कार्य को न कर बैठे; बिना विचारे कार्य करना, आपत्तियों का मुख्य कारण है । विचार कर कार्य करने वाले मनुष्य का तो, गुणों से प्रेम करने वाली सम्पदाएँ स्वयं ही वरण कर लेती हैं ।

२. उचितमनुचितं वा कुर्वता कार्यजातं,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ (भोज.२४)

—

पराक्रमः

१. न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते, न दानमर्थोपचितेषु युज्यते ।
न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः, पराक्रमस्त्वेष ममेह रोचते ॥
(वाल्मी.सु.४१.३)

२. नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमार्जितराज्यस्य, स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ (हि.सु.१९)

---

२. बुद्धिमान् मनुष्य को, उचित या अनुचित कार्य करने से पूर्व उस कार्य के परिणाम के विषय में भली प्रकार विचार कर लेना चाहिये । बहुत जल्दीबाजी में किये गये कर्मों का भारी विपत्ति के रूप में हृदय को जलाने वाला, कण्टक समान दुःखदायी परिणाम होता है ।

—

पराक्रम

१. राक्षसों (पापप्रवृत्ति वाले मनुष्यों) के प्रति अपनाया गया शान्ति रूपी उपाय सफल नहीं होता, धन-सम्पन्न व्यक्तियों के प्रति दान रूपी उपाय सफल नहीं होता और बल के मद में चूर मनुष्य, भेद रूपी उपाय के द्वारा भी वश में नहीं किये जा सकते । अतः मुझे (मुझ हनुमान् को) तो पराक्रम करना ही अच्छा लगता है ।

२. वन के पशु, सिंह का न तो राज्याभिषेक करते हैं और न कोई अन्य संस्कार, किन्तु सिंह अपने पराक्रम से ही वन के राज्य को हथिया लेता है और स्वतः पशुओं का राजा बन जाता है ।

—

स्वाधीनता

१. ओ३म् प्रेहाभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥
(ऋ.१.८०.३)

२. एतावज्जन्मसाफल्यं, यदनायतवृत्तिता ।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृता: ? (हि.सु.२२)

३. सर्वं परवशं दु:खं, सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन, लक्षणं सुखदु:खयो: ॥ (मनु.४.१६०)

४. स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व ।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे ॥ (यजु.२३.१५)

स्वाधीनता

१. हे ऐश्वर्येच्छु मनुष्य ! स्वराज्य (स्वाधीनता) को महत्त्व देता हुआ तू उसके लिये आगे बढ़, विघ्नों का सामना करते हुए बढ़ और विघ्नों को दबा दे । तेरा वज्र (शस्त्र या पराक्रम) किसी अन्य के द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, क्योंकि तेरा बल सब मनुष्यों के द्वारा प्रशंसनीय है । तू वृत्रों को नष्ट कर दे और व्यापक सम्पदाओं को जीत ले ।

२. इसी में जन्म की सफलता है, कि मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों को पराधीन न होने दे । जो पराधीनता को प्राप्त हो गये हैं, वे भी यदि जीवित कहलाते हैं, तो मरे हुए कौन कहलायेंगे ?

३. पराधीनता सबसे बड़ा दु:ख है और स्वाधीनता सबसे बड़ा सुख । इसे ही संक्षेप में सुख और दु:ख का लक्षण समझना चाहिये ।

४. हे बल और ज्ञान से सम्पन्न मनुष्य ! तू अपने शरीर को समर्थ बना, स्वयं उत्तम कर्म कर – उपार्जन कर और तब उपभोग कर । तेरे स्वावलम्बन की महिमा को अन्य कोई नष्ट नहीं कर सकता ।

—

गुणमहत्त्वम्

१. त्यागः सत्यञ्च शौर्यं च, त्रय एते महागुणाः ।
प्राप्नोति हि गुणान् सर्वानेतैर्युक्तो नराधिपः ॥ (काम.४.२४)

२. षडेव तु गुणाः पुंसा, न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ (महाभा.उ.३३.८६)

३. अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति, प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च, दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥
(महाभा.उ.३३.१०४)

४. समृद्धा गुणतः केचिद्, भवन्ति धनतोऽपरे ।
धनवृद्धान् गुणैर्हीनान्, धृतराष्ट्र विवर्जय ॥ (महाभा.उ.३९.८)

५. शरीरस्य गुणानां च, दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
शरीरं क्षणविध्वंसि, कल्पान्तरस्थायिनो गुणाः ॥ (हि.मि.४९)

६. गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥

---

१. त्याग, सत्य और शूरवीरता ये तीन महागुण हैं । इन तीन गुणों से सम्पन्न राजा सभी अन्य गुणों को प्राप्त कर लेता है ।

२. छः गुण मनुष्य को कभी नहीं त्यागने चाहियें । वे हैं – सत्य, दान, स्फूर्ति, गुणों में दोषारोपण न करना, क्षमा और धैर्य ।

३. आठ गुण मनुष्य को प्रकाशयुक्त करते हैं । वे हैं – बुद्धिमत्ता, कुलीनता, इन्द्रियों को वश में रखना, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, मितभाषण, सामर्थ्य के अनुसार दान देना और दूसरे के द्वारा किये हुए उपकार को मानना ।

४. कुछ मनुष्य गुणों से बड़े होते हैं और कुछ धन से । हे धृतराष्ट्र ! तुम, जो धन से तो बड़े हैं, किन्तु गुणों से रहित हैं, ऐसे लोगों को त्याग दो ।

५. शरीर में और गुणों में बड़ा भारी अन्तर है । शरीर तो कुछ क्षणों में नष्ट हो जाने वाला है, जबकि गुण हजारों युगों तक स्थायी रहते हैं ।

६. गुण ही वस्तुतः सम्मान के मुख्य कारण होते हैं । गुणिजनों के विषय में न तो किसी चिह्न का विचार किया जाता है और न ही आयु का ।

—

अभिवादनम्

१. ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति, यूनः स्वविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां, पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ (मनु.२.१२०)

२. लौकिकं वैदिकं वाऽपि, तथाऽऽध्यात्मिकमेव च ।
आदतीत यतो ज्ञानं, तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ (मनु.२.११७)

३. अभिवादनशीलस्य, नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ (मनु.२.१२२)

प्रकीर्णानि

श्रेयसः पन्थाः

१. प्राणाघातान्निवृत्तिः, परधन-हरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्या प्रदानं, युवतिजनकथा-मूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो, गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः, श्रेयसामेष पन्थाः ॥ (नीति.२६)

---

१. आयु या विद्या आदि की दृष्टि से बड़े मनुष्य के आने पर कम आयु या विद्या वाले के प्राण ऊपर की ओर गति करने लगते हैं—उसे थोड़ा उद्वेग सा प्रतीत होता है । तब, उनके सामने खड़े होने से तथा उन्हें प्रणाम करने से वह अपने प्राणों को पूर्वावस्था में ले आता है ।

२. मनुष्य, जिससे सांसारिक विषय का, वेद-विषय का अथवा अध्यात्म-विषय का ज्ञान प्राप्त करे, उसे पहिले प्रणाम करे ।

३. प्रणाम करने के स्वभाव वाले और सदा वृद्धों की सेवा करने वाले की आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चार वस्तुएँ बढ़ती हैं ।

कल्याण का मार्ग

१. प्राणियों की हिंसा करने से विमुख रहना, पराये धन के हरण से हाथ खींच लेना, सत्य बोलना, यथावसर सामर्थ्यानुसार दान देना, पराई स्त्रियों की चर्चा के समय मौन रहना, तृष्णा के कारणों को दूर करना, गुरुजनों के प्रति नम्रता और सब प्राणियों पर दया करना; यही सर्वशास्त्र-सम्मत सरल और कल्याण का मार्ग है ।

—

संसारो गुरुः

१. कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाऽबुद्धिमताम् ॥
(च.वि.८.१२)

दीर्घकालपर्यन्तं स्थायीनि

१. सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः,
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं,
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ (हि.मि.२२)

परीक्षा

१. आपत्सु मित्रं जानीयाद्, युद्धे शूरमृणे शुचिम् ।
भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु, व्यसनेषु च बान्धवान् ॥ (हि.मि.७२)

२. बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य, बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः ।
आपन्निकषपाषाणे, नरो जानाति सारताम् ॥ (हि.सु.८०)

दुरात्म-महात्मनोः परिज्ञानम्

१. मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ (हि.मि.१०१)

संसार गुरु है

१. बुद्धिमान् मनुष्यों के लिये तो यह समस्त संसार ही आचार्य है—गुरु है—कुछ शिक्षा देने वाला है और मूर्खों के लिये शत्रु है ।

लम्बे समय तक न बिगड़ने वाली वस्तुएँ

१. भली प्रकार पचाया हुआ भोजन, अति विवेकशाली पुत्र, अनुशासन में रहने वाली स्त्री, अच्छी प्रकार सेवा से सन्तुष्ट किया गया राजा, भली प्रकार चिन्तन करके बोला गया वाक्य और खूब विचार कर किया गया कार्य; ये बहुत काल बीतने पर भी बिगड़ते नहीं हैं ।

परीक्षा

१. आपत्तियों में मित्र को जांचे, युद्ध में शूरवीर को, ऋण लेने पर पवित्र आचरण वाले को, धन कम हो जाने पर पत्नी को और कष्टों के आने पर सगे बन्धुओं को परखे।

२. बन्धु, स्त्री, सेवक, बुद्धि और अपना सामर्थ्य अथवा आत्मबल इनकी वास्तविकता को मनुष्य विपत्ति रूपी कसौटी पर ही कस कर परखता है ।

दुष्टात्मा और महात्मा की पहिचान

१. मन में कुछ अन्य विचारना, वाणी से कुछ अन्य बोलना और कार्य रूप में कुछ अन्य ही करना यह दुष्टात्मा की पहिचान है । जैसा मन में विचारा वैसा वाणी से बोलना और वैसा ही कार्य रूप में करना यह महात्मा की पहिचान है ।

किं वरम् ?

१. वरं मौनं कार्यं, न च वचनमुक्तं यदनृतं,
वरं क्लैब्यं पुंसां, न च परकलत्राभिगमनम् ।
वरं प्राणत्यागो, न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचिर्
वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम् ॥ (हि.मि.१३५)

विद्या-धर्म-धनवृद्धेर्हेतुः

१. जलबिन्दुनिपातेन, क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्वविद्यानां, धर्मस्य च धनस्य च ॥ (हि.सु.१०)

कस्य किं नश्यति ?

१. स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री,
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं,
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ (हि.सु.१०८)

अच्छा क्या है ?

१. मौन रहना अच्छा है किन्तु झूठ बोलना अच्छा नहीं, नपुंसकता अच्छी किन्तु परस्त्री-गमन अच्छा नहीं, प्राणों को त्याग देना अच्छा है किन्तु चुगली करने में रुचि होना अच्छा नहीं और भीख मांग कर खाना अच्छा है किन्तु पराये धन से स्वादिष्ट वस्तु खाने का सुख पाना अच्छा नहीं ।

विद्या-धर्म-धन की वृद्धि का कारण

१. पानी की बूंद बूंद के गिरने से धीरे-धीरे घड़ा भर जाता है, बस यही कारण सब विद्याओं की, धर्म की और धन की वृद्धि का है अर्थात् थोड़े-थोड़े से संग्रह से भी इनकी क्रमशः वृद्धि होती है ।

किसका क्या नष्ट हो जाता है ?

१. प्रगति न करने वाले की कीर्त्ति नष्ट हो जाती है, समस्वभाव न रखने वाले की मित्रता, निर्बल इन्द्रियों वाले का परिवार, धन मात्र में लगे हुए का धर्म, व्यसनी का विद्या रूपी फल, कंजूस का सुख और प्रमादी मन्त्रियों वाले राजा का राज्य नष्ट हो जाता है ।

—

स्निग्ध-कर्म-स्त्री-मतिमत्-श्री-सुखि-मित्र-पुरुषलक्षणानि

१. स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं,
सा स्त्री याऽनुविधायिनी स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते।
सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते ।
तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥ (हि.सु.१४१)

त्याज्या जनाः

१. राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षः, स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः ।
प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी, त्याज्या इमे यश्च कृतं न वेत्ति ॥
(हि.सु.१८२)

व्यवहारे वर्जनीया जनाः

१. घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः, पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव, व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥
(महाभा.उ.३७.३०)

स्नेही-कर्म-स्त्री-बुद्धिमान्-श्री-सुखी-मित्र और पुरुष के लक्षण

१. स्नेही वह है जो बुराई से हटाता है, कर्म वह है जो दोष रहित हो-बेदाग हो, पत्नी वह है जो अनुकूल चलने वाली हो, बुद्धिमान् वह है जिसकी सज्जन पूजा करें । सम्पत्ति वह है जो अभिमान उत्पन्न न करे, सुखी वह है जो तृष्णा से पृथक् हो जाय, मित्र वह है जो स्वाभाविक हो और मनुष्य वह है जिसे इन्द्रियाँ चञ्चल न कर सकें ।

त्याज्य जन

१. दयालु (सरल स्वभाव वाला) राजा, सब कुछ खाने वाला ब्राह्मण, वश में न रहने वाली स्त्री, दुष्ट प्रकृति वाला सहायक, उलटा चलने वाला भृत्य, प्रमादी अधिकारी और कृतघ्न (किये उपकार को न मानने वाला) ये त्यागने योग्य मनुष्य हैं ।

लेनदेन के व्यवहार में त्याज्य जन

१. दयालु राजा, अनेक पुरुषों से शरीर-सम्बन्ध रखने वाली स्त्री, राजकर्मचारी, पुत्र, भाई, ऐसी विधवा जिसका पुत्र अभी छोटा हो, सैनिक और नष्ट-सम्पत्ति वाला ये सब; लेन-देन के व्यवहार में त्यागने योग्य हैं ।

—

गृहे प्रतिवासयितुमयोग्याः

१. अकर्मशीलं च महाशनं च, लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेषमेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥
(महाभा.उ.३७.३५)

कः किं प्राप्नोति ?

१. दक्षः श्रियमधिगच्छति पथ्याशीः कल्यतां सुखमरोगी ।
उद्युक्तो विद्यान्तं धर्मार्थयशांसि च विनीतः ॥ (हि.वि.११३)

किं को हन्ति ?

१. मुदं विषादः शरदं हिमागमस्तमो विवस्वान् सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः ॥
(हि.वि.११८)

अवमानसम्मानयोः प्रति भावः

१. अमृतस्येव सन्तृप्येदवमानस्य तत्त्ववित् ।
विषस्येवोद्विजेन्नित्यं, सम्मानस्य विचक्षणः ॥ (महाभा.शा.२२९.२१)

घर में न ठहराने योग्य

१. अकर्मण्य (निठल्ले), बहुत खाने वाले, सबसे द्वेष रखने वाले, अधिक माया (छल-कपट) रचने वाले, क्रूर, देश तथा काल को न जानने वाले और भद्दे वेष को धारण करने वाले को अपने घर में न ठहरावे ।

कौन किसे पाता है ?

१. निपुण मनुष्य सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है, पथ्य (हितकारक तथा मात्रा में) भोजन करने वाला स्वास्थ्य को, नीरोग सुख को, तत्पर पूर्ण विद्या को और विनम्र मनुष्य धर्म, अर्थ तथा कीर्त्ति को प्राप्त कर लेता है ।

कौन किसे नष्ट कर देता है ?

१. प्रसन्नता को दुःख नष्ट कर देता है, शरद् ऋतु को हेमन्त ऋतु, अन्धकार को सूर्य, पुण्य कर्म को कृतघ्नता, शोक को प्रियजन की प्राप्ति, आपत्ति को नीति और खूब बढ़ी हुई सम्पत्ति को भी दुष्ट नीति (अनीति) नष्ट कर देती है ।

अपमान और सम्मान के प्रति भाव

१. तत्त्वज्ञानी बुद्धिशाली मनुष्य को सदा अपना अपमान होने पर अमृत-प्राप्ति की सी तृप्ति का अनुभव करना चाहिये और सम्मान होने पर विष-प्राप्ति के समान उद्विग्न (नाराज) होना चाहिये ।

कुत्र को नियोक्तव्य: ?

१. पितुरन्त:पुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात्, स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥ (महाभा.उ.३८.१२)

विवेक-योग-धर्म-कर्मणां सत्यस्वरूपम्

१. विवेक: किं सोऽपि स्वरसजनिता यत्र न कृपा,
स किं योगो यस्मिन्न भवति परानुग्रहरस: ।
स किं धर्मो यत्र स्फुरति न परद्रोह-विरति:,
कृतं किं तद्वा स्यादुपशमफलं यन्न भवति ॥ ( )

केन किं रक्ष्यते ?

१. सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं, कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥
२. मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रम: ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च, स्त्रियो रक्ष्या: सुचैलत: । (महाभा.उ.३४.३९,४०)

कहाँ किसे नियुक्त करना चाहिये ?

१. पिता को महिलाओं के आवास की रक्षा का भार सौंपना चाहिये, माता को रसोई की देखभाल का, अपने समान योग्य को गौओं के पालन का और स्वयं को कृषि का भार संभालना चाहिये ।

विवेक, योग, धर्म और कर्म का असली रूप

१. वह भी क्या कोई विवेक है जिसके कारण मनुष्य में स्वत: दयाभाव न उपजे ? क्या वह भी कोई योग है जिससे दूसरों पर कृपा करने की रुचि उत्पन्न न हो ? क्या वह भी कोई धर्म है जिसमें पराई हिंसा से वैराग्य न हो और क्या वह भी कोई कर्म है जिसका फल शान्ति न हो ?

किसके द्वारा किसकी रक्षा की जाती है ?

१-२. सत्य के द्वारा धर्म की रक्षा की जाती है, योग (एकाग्रता तथा निरन्तरता) के द्वारा विद्या की रक्षा की जाती है । साफ सफाई से सौन्दर्य की और सदाचार से परिवार की रक्षा की जाती है । तोलमाप से अमाज की, फेरने से घोड़ों की, निरन्तर देखभाल से गौओं की और ढंग के पूरे वस्त्रों के धारण कराने से स्त्रियों की रक्षा की जाती है ।

अन्ते सुखकारिण:

१. स्वधीतस्य सुयुद्धस्य, सुकृतस्य च कर्मण: ।
तपसश्च सुतप्तस्य, तस्यान्ते सुखमेधते ॥ (महाभा.उ.३६.५४)

अतिदु:खेऽप्ययाचनीया:

१. कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च, वनौकसं धूर्त्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्नमेतान् भृशार्त्तोऽपि न जातु याचेत् ॥
(महाभा.उ.३७.३६)

स्त्रिय: प्रति व्यवहार:

१. अनीर्षुर्गुप्तदारश्च, संविभागी प्रियंवद: ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां, न चासां वशगो भवेत् ॥
(महाभा.उ.३८.१०)

अनर्थानां भाजनम्

१. अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्था: क्षिप्रमायान्ति, वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ (महाभा.उ.३८.३५)

अन्त में सुखदायी

१. भली प्रकार पढ़े हुए के, जमकर किये गये युद्ध के, उत्तम पुण्य कर्म के और विधि पूर्वक की गई तपस्या के अन्त में ही सुख मिलता है ।

अति दु:ख पड़ने पर भी किनसे नहीं मांगना ?

१. बहुत दु:खी होने पर भी कंजूस, गाली देने वाले, शास्त्रज्ञानरहित, वनवासी, धूर्त्त, नीच का मान करने वाले, क्रूर, शत्रुता करने वाले और कृतघ्न इन लोगों से कभी याचना न करे ।

स्त्रियों के प्रति व्यवहार

१. स्त्रियों से कभी ईर्ष्या न करे, उनको सुरक्षित रखे, उनमें सम्पत्ति आदि का उचित विभाग करे, प्रिय वचन बोले, स्नेहपूर्ण व्यवहार करे और मधुरवाणी बोले, किन्तु कभी इनके आधीन न होवे ।

संकटों के पात्र

१. नीच आचरण वाले, निर्बुद्धि, गुणों में दोषारोपण करने वाले, अधर्मात्मा, दुष्ट-वचन बोलने वाले और क्रोधी मनुष्य के ऊपर शीघ्र ही संकट आ जाते हैं ।

केन किं न जेयम् ?

१. न स्वप्नेन जयेन्निद्रां, न कामेन जयेत् स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं, न पानेन सुरां जयेत् ॥ (महाभा.उ.३९.८१)

किं केन नश्यति ?

१. दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालनाद्,
विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः, स्नेहः प्रवासाश्रयान्
मैत्री चाऽप्रणयात्समृद्धिरनयात् त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥ (नीति.४२)

दुर्जनः परिहर्त्तव्यः

१. दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ (नीति.५३)

पुण्यकृद्भिः प्राप्तव्यानि पुत्रकलत्रमित्राणि

१. यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो,
यद् भर्त्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य-
देतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥ (नीति.६८)

किससे किसको नहीं जीता जा सकता ?

१. शयन करने से निद्रा नहीं जीती जा सकती, कामवासना से स्त्रियों को नहीं जीता जा सकता, इन्धन से अग्नि शान्त नहीं की जा सकती और पीने से मदिरा-पान नहीं जीता जा सकता (क्योंकि इनसे तो ये और बढ़ती हैं) ।

क्या किससे नष्ट हो जाता है ?

१ राजा दुष्ट मन्त्रणा से नष्ट हो जाता है, संन्यासी आसक्ति से, सन्तान लाड़प्यार से, ब्राह्मण न पढ़ने से, परिवार कुसन्तान से, सदाचार दुष्टों के सङ्ग से, लज्जा मदिरा से, खेती देखभाल न करने से, स्नेह परेदश में रहने से, मित्रता प्रीति के अभाव से, सम्पत्ति अनीति से और धन त्याग करने से तथा प्रमाद से नष्ट हो जाता है ।

दुष्ट को दूर रखना चाहिये

१. दुष्ट मनुष्य यदि विद्या सम्पन्न भी हो, तो भी उसे अपने से दूर ही रखना चाहिये । जैसे कि सर्प यदि मणि से युक्त हो, तो भी क्या वह भयङ्कर नहीं होता ?

पुण्यात्माओं के प्राप्त करने योग्य पुत्र, स्त्री और मित्र

१. जो अपने उत्तम आचरणों से पिता को प्रसन्न करे ऐसा पुत्र, जो अपने पति का हित ही चाहती हो ऐसी पत्नी और जो विपत्ति और सुख के समय में समान रूप से सहायक हो ऐसा मित्र–इन तीनों को संसार में पुण्यात्मा लोग ही पाते हैं ।

लाभाऽसुखहानिनिपुणताशूरादीनां सत्यस्वरूपम्

१. को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्रज्ञेतरैः संगतिः,
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः ।
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥ (नीति.१०४)

मायाविषु मायिनां विजयः

१. व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥
(किरा.१.३०)

एकम्

१. एको धर्मः परं श्रेयः, क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ (महाभा.उ.३३.५२)

द्वे

१. द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किञ्चिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥

लाभ, दुःख, हानि, निपुणता आदि का असली रूप

१. लाभ क्या है ? गुणी जनों की सङ्गति; दुःख क्या है ? मूर्खों की संगति; हानि क्या है? समय चूकना; निपुणता क्या है ? धर्माचरण में लगन; वीर कौन है ? जितेन्द्रिय; प्रिय पत्नी कौन है ? अनुकूल आचरण वाली; धन क्या है ? विद्या; सुख क्या है ? व्यर्थ परदेश में न भटकना; और राज्य क्या है ? अपनी आज्ञा का पालन होना ।

मायावी लोगों पर मायावियों की ही जीत होती है

१. वे निर्बुद्धि लोग पराजय को प्राप्त होते हैं जो छल (कूटनीति) करने वालों के प्रति छल का व्यवहार नहीं करते । उन निर्बुद्धियों को वे छली धूर्त उनके अन्दर घुसकर वैसे ही नष्ट कर देते हैं, जैसे तीखे बाण कवचरहित शरीर वालों को ।

एक

१. एक धर्म ही परम कल्याणकारक है, एक क्षमा ही उत्तम शान्ति है । एक विद्या ही परम तृप्ति है और एक अहिंसा ही सुख देने वाली है ।

दो

१. मनुष्य इस संसार में दो कर्म करता हुआ ही सबको अच्छा लगता है–एक तो कुछ भी कठोर वचन न बोलता हुआ और दूसरा दुष्टों का सम्मान न करता हुआ ।

२. द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ, शरीरपरिशोषिणौ ।
अश्चाऽधनः कामयते, यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥

३. द्वावेव न विराजेते, विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः, कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥

४. द्वाविमौ पुरुषौ राजन् ! स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो, दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥

५. न्यायागतस्य द्रव्यस्य, बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च, पात्रे चाऽप्रतिपादनम् ॥

६. द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ, गले बद्ध्या दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं, दरिद्रं चाऽतपस्विनम् ॥

७. द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र ! सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च, रणे चाऽभिमुखो हतः॥ (महाभा.उ.३३.५४,५६-६१)

---

२. मनुष्य के जीवन में दो ही बातें तीखे कांटों के समान शरीर को कष्ट पहुँचाने वाली हैं—एक तो निर्धन होने पर भी बड़ी बड़ी कामनाएँ करना और दूसरा सामर्थ्य न होने पर भी क्रोध करना ।

३. उलटे काम करने के कारण दो ही प्रकार के मनुष्य शोभा नहीं देते । एक तो गृहस्थ जो कर्महीन (निठल्ला) हो और दूसरा संन्यासी जो (जीविका के) कर्म करता हो ।

४. हे राजन् ! दो ही मनुष्य दिव्य-सुखमय जीवन के उत्तम भाग में स्थित होते हैं । एक तो वह सम्पन्न व्यक्ति जो क्षमाशील हो और दूसरा वह निर्धन व्यक्ति जिसमें दान की प्रवृत्ति हो ।

५. धर्म से उपार्जित धन के दो ही दुरुपयोग समझने चाहियें । एक तो कुपात्र को देना और दूसरा सत्पात्र को न देना ।

६. जो धनवान् हो पर दान न देता हो और जो दरिद्र हो पर तपस्वी न हो; ऐसे दोनों व्यक्तियों को उनके गले में बड़ी शिला बांधकर पानी में डुबा देना चाहिये ।

७. हे पुरुषश्रेष्ठ ! दो ही प्रकार के मनुष्य प्रकाशमय मुक्ति को अथवा (सात्त्विक) परजन्म को प्राप्त करने वाले होते हैं । एक तो योगसाधक संन्यासी और दूसरा वीरता-पूर्वक युद्ध करते हुए मृत्यु को प्राप्त वीर ।

त्रीणि

१. हरणं च परस्वानां, परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥

२. त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

३. भक्तं च भजमानं च, तवास्मीति च वादिनम् ।
त्रीनेतान् शरणं प्राप्तान्, विषमेऽपि न सं त्यजेत् ॥

(महाभा.उ.३३.६५,६६,६८)

चत्वारि

१. चत्वार्याह महाराज ! साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥

२. देवतानां च सङ्कल्पमनुभावं च धीमताम् ।
विनयं कृतविद्यानां, विनाशं पापकर्मणाम् ॥

३. चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि, भयं प्रयच्छन्त्ययथा-कृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं, मानेनाऽधीतमुत मानयज्ञः ॥

(महाभा.उ.३३.७१-७३)

तीन

१. पराये धन का हरण करना, पराई स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध रखना और मित्र का त्याग कर देना, ये तीन दोष नाश करने वाले हैं ।

२. काम, क्रोध और लोभ ये तीन दोष नरक (महादुःख) के द्वार सदृश हैं और आत्मा को पतित करने वाले हैं, अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिये ।

३. भक्त, सेवा करने वाले और 'मैं आपका ही हूँ ।' इस प्रकार बोलने वाले–इन तीन प्रकार के शरणागत व्यक्तियों को कठिन परिस्थिति में भी न त्यागे ।

चार

१-२. हे महाराज ! पूर्व काल में इन्द्र के पूछने पर बृहस्पति ने चार बातों को तुरन्त फल देने वाला बताया था, उन्हें तुम मुझसे समझ लो । वे हैं–देवताओं का सङ्कल्प, बुद्धिमानों का प्रभाव, विद्वानों की नम्रता और पाप कर्मों का नाश ।

३. चार कर्म ऐसे हैं जो भय-रहित हैं, किन्तु यदि उन्हें ठीक ढंग से न किया जाय तो वे ही भयङ्कर हो जाते हैं । वे हैं श्रद्धापूर्वक हवन करना, श्रद्धापूर्वक मौन रखना, श्रद्धापूर्वक पढ़ना और आदरपूर्वक यज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ आदि) करना ।

पञ्च

१. पञ्चाग्नयो मनुष्येण, परिचर्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताग्निरात्मा च, गुरुश्च भरतर्षभ ॥
२. पञ्च त्वाऽनुगमिष्यन्ति, यत्र यत्र गमिष्यसि ।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥

(महाभा.उ.३३.७४,७६)

षट्

१. षडेव तु गुणाः पुंसा, न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥
२. षडिमान् पुरुषो जह्याद्, भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥
३. अरक्षितारं राजानं, भार्यां चाऽप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं, वनकामं च नापितम् ॥
४. षडिमानि विनश्यन्ति, मुहूर्त्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या, विद्या वृषलसङ्गतिः ॥

पांच

१. हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! मनुष्यों को पांच अग्नियों (मार्ग दिखाने वालों) की प्रयत्नपूर्वक सेवा करनी चाहिये । वे हैं–पिता, माता, यज्ञाग्नि, आत्मा और गुरु (आचार्य) ।
२. हे महाराज ! पांच प्रकार के मनुष्य, जहाँ जहाँ तू जायेगा वहाँ वहाँ तेरे पीछे पीछे जायेंगे । वे हैं–मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रय दाता और शरण पाने के इच्छुक ।

छः

१. मनुष्य को छः गुण कभी नहीं त्यागने चाहियें । वे हैं–सत्य, दान, पुरुषार्थ, गुणों में दोषारोपण न करना, क्षमा और धैर्य ।
२-३. मनुष्य को चाहिये कि वह न पढ़ाने वाले आचार्य को, वेद पाठ न करने वाले ऋत्विक् को, रक्षा न करने वाले राजा को, कटुवचन बोलने वाली पत्नी को, ग्राम में ही रहने के इच्छुक ग्वाले को और वन में घूमने के इच्छुक नाई को – इन छः को वैसे ही त्याग दे, जैसे समुद्र में टूटी हुई नाव को त्याग देते हैं ।
४. निम्नोक्त छः वस्तुएँ उचित समय पर देखभाल न करने से–ध्यान न देने से नष्ट हो जाती हैं–बिगड़ जाती हैं । वे छः हैं–गौएँ, सेवा, खेती, पत्नी, विद्या और नीचों की सङ्गति ।

५. ईर्ष्यी घृणी न सन्तुष्टः, क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च, षडेते नित्यदुःखिताः ॥
(महाभा.उ.३३.८१,७९,८०,८६,९०)

सप्त

१. सप्त दोषाः सदा राज्ञा, हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति, कृतमूला अपीश्वराः ॥
२. स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं, वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ (महाभा.उ.३३.९१,९२)

अष्टौ

१. अष्टौ पूर्वनिमित्तानि, नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि, ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥
२. ब्राह्मणस्वानि चादत्ते, ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निन्दया चैषां, प्रशंसां नाभिनन्दति ॥
३. नैतान् स्मरति कृत्येषु, याचितश्चाभ्यसूयति ।
एतान् दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद्, बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥

---

५. ईर्ष्या करने वाला, घृणा करने वाला, असंतोषी, क्रोधी, सदा शङ्का करने वाला और पराये भाग्य पर जीवित रहने वाला–ये छः व्यक्ति सदा दुःखी रहते हैं ।

सात

१-२. राजा को चाहिये कि वह आपत्तियों को आमन्त्रित करने वाले सात दोषों को सदा के लिये त्याग दे, जिन दोषों से कि स्थायी दृढ़ शासन वाले राजा लोग भी नष्ट हो जाते हैं । वे सात दोष हैं–स्त्रियों में आसक्ति, जुआ, शिकार, मदिरादिपान, वाणी की कठोरता, अति कठोर दण्ड देना और धन के आयव्यय के विषय में लापरवाही।

आठ

१-३. विनाश की ओर अग्रसर होने वाले मनुष्य के आठ पूर्व चिह्न हैं–१. वह ब्राह्मणों (ईश्वर और वेद के अनुरागी विद्वानों) से द्वेष करता है; २. ब्राह्मणों से विरोध करता है; ३. ब्राह्मणों के धनादि को जब्त कर लेता है; ४. ब्राह्मणों को मारना चाहता है; ५. ब्राह्मणों की निन्दा में रुचि रखता है; ६. ब्राह्मणों की प्रशंसा में प्रसन्न नहीं होता; ७. उत्सवादि के अवसरों पर ब्राह्मणों को नहीं बुलाता; और ८. ब्राह्मण यदि कोई याचना करें तो उनमें दोष निकालता है ।

४. अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति, प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाऽबहुभाषिता च, दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥
(महाभा.उ.३३.९३-९५;९९)

नव

१. नवद्वारमिदं वेश्म, त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान्, यो वेद सः परः कविः (महाभा.उ.३३.१००)

दश

१. दश धर्मं न जानन्ति, धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः, श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥
२. त्वरमाणश्च लुब्धश्च, भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु, न प्रसज्जेत पण्डितः ॥ (महाभा.उ.३३.१०१,१०२)

मृत्योरनिवार्यता

१. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे, न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

---

४. आठ गुण मनुष्य को प्रकाशवान् (तेजस्वी) बना देते हैं । वे हैं–बुद्धिमत्ता, कुलीनता, इन्द्रियों को वश में रखना, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, मितभाषण, सामर्थ्यानुसार दान करना और कृतज्ञता ।

नौ

१. जो मनुष्य, नौ द्वारों (दो नेत्रछिद्र, दो कर्णछिद्र, दो नाक के छिद्र, मुख, उपस्थ और गुदा के एक एक छिद्र) वाले, तीन (वात, पित्त, कफ रूपी) स्तम्भों वाले और पांच (ज्ञानेन्द्रिय रूपी) साक्षी वाले, आत्मा के निवास-स्थान रूपी इस शरीर को पूर्णतया जानता है वह महान् विद्वान् है ।

दस

१-२. हे धृतराष्ट्र ! जो दस प्रकार के मनुष्य धर्म के समझने में समर्थ नहीं होते उन्हें तुम जान लो । वे दस हैं – नशाखोर, प्रमादी, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, भयभीत और कामुक । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य इनमें अधिक रुचि न रखे ।

मृत्यु की अनिवार्यता

१. हे अर्जुन ! जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म भी अवश्य होगा । इसलिये इस अनिवार्य विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ।

२. कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले, रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां, काले काले छिद्यते रुह्यते च ॥ ( )

कार्यसिद्धिकराणि तत्त्वानि

१. अनिर्वदं च दाक्ष्यं च, मनसश्चाऽपराजयम् ।
कार्यसिद्धिकराण्याहुस्तस्मादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ (वाल्मी.कि.४९.६)

आश्चर्यम्

१. अहन्यहनि भूतानि, गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम् ॥
(महाभा.व.३१३.११६)

२. उद्घटितनवद्वारे, पञ्जरे विहगोऽनिलः ।
यत्तिष्ठति तदाश्चर्यं, प्रयाणे विस्मयः कुतः ॥ ( )

भ्रान्तिः

१. गतसारेऽत्र संसारे, सुखभ्रान्तिः शरीरिणाम् ।
लालापानमिवाङ्गुष्ठे, बालानां स्तन्यविभ्रमः ॥ ( )

---

२. मृत्युकाल के उपस्थित होने पर कौन किसको बचा सकता है ? रस्सी के, बीच में से टूट जाने पर (नीचे लटके) घड़े को कौन थाम सकता है ? यह संसार जङ्गल के तुल्य धर्म वाला है; जो समय-समय पर काटा जाता है और कट कर फिर बढ़ जाता है ।

कार्य को सिद्ध करने वाले तत्त्व

१. उत्साह, निपुणता और मन का हार न मानना ये तीन बातें कार्य को सिद्ध करने वाली हैं, इसलिये मैं (अङ्गद) यह (सीताऽन्वेषण-विषयक प्रयत्न की बात) कहता हूँ ।

आश्चर्य

१. इस संसार में दिन प्रतिदिन प्राणी मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु जो अभी जीवित हैं वे तो स्थायी रूप से जीने की ही लालसा पाले हुए हैं, इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा?

२. खुले हुए नौ द्वारों वाले इस शरीर रूपी पिंजरे में एक जो प्राण रूपी पक्षी (निरन्तर) विराजमान है, यही आश्चर्य है, उसके किसी समय इसमें से निकल जाने पर क्या आश्चर्य करना?

भ्रान्ति

१. निस्सार से इस संसार में, प्राणियों को जो सुख की भ्रान्ति है, वह तो वैसी ही है जैसे अंगूठा मुख में रखकर अपनी लार का पान करने वाले बालकों को स्तन के दूध पीने की भ्रान्ति होती है ।

तपोदमक्षमाह्रीणां लक्षणानि

१. तपः स्वधर्मवर्त्तित्वं, मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वन्द्व-सहिष्णुत्वं, ह्रीरकार्यनिवर्त्तनम् ॥ (महाभा.व.३१३.८८)

मुदितः कः ?

१. पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा, शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाऽप्रवासी च, स वारिचर मोदते ॥ (महाभा.व.३१३.११५)

संसारस्यैका वार्त्ता

१. अस्मिन् महामोहमये कटाहे, सूर्याग्निना रात्रि-दिवेन्धनेन ।
मासर्त्तुदर्वीपरिघट्टनेन, भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥
(महाभा.व.३१३.११८)

क्षान्त्यादीनां तीव्रता

१. क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां,
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ?
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि,
व्रीडा चेत् किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ? (नीति.२१)

तप, दम, क्षमा और लज्जा का लक्षण

१. अपने धर्म (कर्त्तव्य) का पालन करना तप है, मन (आदि इन्द्रियों) को वश में रखना दम है। निन्दा, स्तुति आदि द्वन्द्वों को सहन करना क्षमा है और बुरे कार्य से हट जाना ही लज्जा है ।

प्रसन्न कौन ?

१. भले ही मनुष्य घर में पांचवें अथवा छठे दिन अच्छा शाकादि पकाता हो (अन्यथा चटनी से ही रोटी खा लेता हो) किन्तु यदि वह पितृऋण आदि ऋणों से और किसी के कर्ज से रहित है और व्यर्थ ही उसे परदेश में नहीं रहना पड़ता है; तो हे जलविहारिन्! वही मनुष्य प्रसन्न है ।

संसार की एक बात

१. इस संसार के महामोह रूपी कड़ाह में, सूर्य रूपी अग्नि से, रात्रि और दिन रूपी इन्धन से, मास ऋतु रूपी कड़छी चलाकर; काल रूपी पाचक प्राणियों को पकाता जाता है, यही एक बात है ।

क्षमा आदि की तीव्रता

१. मनुष्यों के जीवन में यदि क्षमा है तो बाहरी कवच की क्या आवश्यकता है ? यदि क्रोध है तो अन्य शत्रुओं की क्या आवश्यकता है (वही बहुत है), भाई-बन्धु हैं तो फिर अग्नि की क्या आवश्यकता है ? यदि उत्तम मित्र है तो दिव्य औषधों का क्या प्रयोजन ? यदि दुष्ट हैं तो फिर सर्पों की क्या आवश्यकता ? यदि श्रेष्ठ विद्या है तो अन्य धनों का क्या प्रयोजन ? यदि लज्जा है तो अन्य आभूषणों की क्या आवश्यकता? और यदि उत्तम कविता है तो राज्य से क्या प्रयोजन ?

२. लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकै:,
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ?
सौजन्यं यदि किं जनै: सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनै:,
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ? (नीति.५५)

अभिमान: सर्वहारी

१. जरा रूपं हरति धैर्यमाशा, मृत्यु: प्राणान् धर्मचर्यामसूया ।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा, क्रोध: श्रियं सर्वमेवाभिमान: ॥ ( )

जीवितसाफल्यम्

१. यमाजीवन्ति पुरुषं, सर्वभूतानि सञ्जय ।
पक्वं द्रुममिवासाद्य, तस्य जीवितमर्थवत् ॥
२. यस्य शूरस्य विक्रान्तैरेधन्ते बान्धवा: सुखम् ।
त्रिदशा इव शक्रस्य, साधु तस्येह जीवितम्॥ (महाभा.उ.१३३.४३,४४)
३. असेवितेश्वर-द्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।
अनुक्तक्लीबवचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ (हि.मि.१४५)

---

२. यदि लोभ है तो अन्य दुर्गुण की क्या आवश्यकता ? यदि चुगलखोरी है तो अन्य पापों की क्या आवश्यकता ? यदि सत्य है तो अन्य तप की क्या आवश्यकता ? यदि पवित्र मन है तो अन्य तीर्थों की (यात्रा की) क्या आवश्यकता ? यदि सौजन्य (सरलतामय परोपकारवृत्ति) है तो अन्य बहुत से मनुष्यों (के साहाय्य) की क्या आवश्यकता ? यदि उत्तम महिमा है तो अन्य आभूषणों से क्या प्रयोजन ? यदि उत्तम विद्या है तो अन्य धनों की क्या आवश्यकता ? और यदि अपकीर्त्ति है तो फिर मृत्यु की क्या आवश्यकता ?

अभिमान सब कुछ हरने वाला है

१. बुढ़ापा सौन्दर्य को हर लेता है, आशा धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, असूया (गुणों में दोष ढूँढ़ना) धर्माचरण को, कामुकता लज्जा को, दुष्टों की सेवा सदाचार को, क्रोध सम्पत्ति को और अभिमान तो सर्वस्व को हर लेता है ।

जीवन की सफलता

१. हे सञ्जय (विदुलापुत्र) ! पके हुए फलों वाले वृक्ष के समान जिस मनुष्य का सहारा लेकर सभी प्राणी अपना जीवनयापन करते हैं, उसी का जीवन सफल है ।
२. जिस शूरवीर मनुष्य के पराक्रमों से बन्धुबान्धव वैसे ही सुख-पूर्वक बढ़ते हैं, जैसे कि इन्द्र के पराक्रम से देवगण–उसी मनुष्य का जीवन उत्तम (सफल) है ।
३. जिसने कभी धनवानों के द्वारे जाकर याचना नहीं की, जिसको विरह की पीड़ा नहीं सहनी पड़ी और जिसने कभी किसी के आगे कभी दीन वचन नहीं कहे, ऐसे किसी विरले मनुष्य का जीवन धन्य है ।

४. निर्वाहितमतिगहनं विना कलङ्केन यौवनं येन ।
दोषनिधाने जन्मनि किं न प्राप्तं फलं तेन ॥ ( )

—

तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो !

१. नो सोदरो न जनको जननी न जाया,
नैवात्मजो न च कुलं विपुलं बलं वा ।
सन्दृश्यते न किल कोऽपि सहायको मे,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो! ॥
२. पूर्वं कृतानि दुरितानि मया तु यानि,
स्मृत्वाऽखिलानि हृदयं परिकम्पते मे ।
ख्याता च ते पतितपावनता दयालो !
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो ! ॥
३. तीर्थादिसेवन-महाविधिरेव नाथ !
नाकारि, येन मनसो मम शोधनं स्यात् ।
शुद्धिं विना न मनसोऽवगमापवर्गौ,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो ! ॥

---

४. इस, दोषों की सम्भावना से भरपूर जीवन में, जिसने अपने पेचीदे यौवन को बिना कलङ्क के बिता दिया, उसने कौनसा सुफल प्राप्त नहीं किया !

—

१. न सगा भाई, न पिता, न माता, न पत्नी, न पुत्र, न कुटुम्ब और न ही प्रचुर बल—इनमें से कोई भी मेरा (सच्चा) सहायक प्रतीत नहीं होता, अत: हे दीनों के बन्धु भगवन् ! तुम ही मेरे लिये शरणस्थान हो ।

२. मैंने जो पहिले दुष्कर्म किये हैं उन सबको स्मरण करके मेरा हृदय कांप उठता है । हे दयालु ईश्वर ! तुम्हारी तो, पतितों को पवित्र करने की वृत्ति प्रसिद्ध ही है, अत: हे दीनबन्धो ! तुम ही मेरे लिये परम शरण हो ।

३. विद्या, योगादि तीर्थों के सेवन की उत्तम विधि का ही मैंने अनुष्ठान नहीं किया जिससे कि मेरे मन की शुद्धि हो जाती । मन की शुद्धि के बिना सांसारिक उपलब्धि और मोक्ष सम्भव नहीं, अत: हे दीन... ।

४. तप्त तपो नहि कदापि मयेह तन्वा,
वाण्या तथा नहि कदापि तपश्च तप्तम् ।
मिथ्याभिभाषण-परेण न मानसं हि,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो ! ॥

५. स्तब्धं मनो मम सदा नहि याति सौख्यं,
चक्षुश्च मे न तव पश्यति विश्वकाव्यम् ।
जिह्वा तथैव न वदेन्मम सोम्यवाणीं,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो! ॥

६. दुर्वासना मम सदा परिकर्षयन्ति,
चित्तं शरीरमपि रोगगणा दहन्ति ।
सञ्जीवनं च परहस्तगतं सदैव,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो ! ॥

७. गायन्ति सामकुशलाः खमजं मखे त्वां,
ध्यायन्ति धीरमतयो यतयो विविक्ते ।
पश्यन्ति योगिपुरुषाः पुरुषं शरीरे,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो! ॥ (सं.शि.षष्ठ-भागः)

---

४. मैंने इस संसार में कभी शरीर से तप नहीं किया, मिथ्या-भाषण करते हुए मैंने न वाणी से कभी तप तपा और न मानसिक तप ही किया । अतः हे दीन... ।

५. जड़ सा बना मेरा मन कभी सच्चे सुख को प्राप्त नहीं होता और मेरी आँखें तेरे संसार रूपी काव्य को भली प्रकार नहीं निहारती । मेरी जिह्वा भी सोम्य वचन नहीं बोलती, अतः हे दीन....।

६. दुर्वासनाएँ मेरे चित्त को सदा खींचती रहती हैं, शरीर को रोग समूह जलाते रहते हैं। मेरा जीवित रहना भी सदा वैद्यादि के ही हाथ में रहता है । अतः हे दीन....।

७. तुम आकाशवत् व्याप्त और अजन्मा हो, सामगान में निपुण लोग यज्ञ में सदा तुम्हारा गान करते हैं, धीरबुद्धि के धनी यतिजन एकान्त में तुम्हारा ध्यान करते हैं और योगीजन तुम परमपूर्ण को अपने स्वात्मस्वरूप में ही साक्षात् अनुभव करते हैं, अतः हे दीन....।

—

भजत भो ! मनुजा: ! परमेश्वरम्

१. मनुजदेहमिमं भुवि दुर्लभं, समधिगम्य सुरैरपि वाञ्छितम् ।
विषयलम्पटतामपहाय वै, भजत भो ! मनुजा: ! परमेश्वरम् ॥

२. न वनिता न सुतो न सहोदरो, नहि पिता जननी न च बान्धव: ।
व्रजति साकमनेन जनेन वै, भजत भो मनुजा: ! परमेश्वरम् ॥

३. सकलमेव चलं सचराचरं, जगदिदं सुतरां धनयौवनम् ।
समवलोक्य विवेकदृशा द्रुतं, भजत भो मनुजा: ! परमेश्वरम् ॥

(सं.शि.ष.भा.)

—

प्रार्थना

प्रभो ! मयि धेहि विज्ञानं, तरेयं दु:खसागरत: ।
त्वदीयां प्रेम्णा भक्तिं, धरेयं शाश्वतं धात: ! ॥ १ ॥
विचित्रो निर्मित: कायो द्विधानि चेन्द्रियाणीति ।
यथास्थानं यथाकामं, त्वमेव तात ! हे दात: ॥ २ ॥
इमानि पञ्चभूतानि पृथिव्यप्तैजसादीनि ।
समानि सर्वत: कृत्वा, अहो सृष्टे: सरीसर्त्त:! ॥ ३ ॥

---

१. भूतल पर, इस दुर्लभ और देवों के द्वारा भी कामना करने योग्य मानव शरीर को पाकर, विषयों में अत्यन्त आसक्ति को त्यागकर हे मनुष्यो ! परमेश्वर को भजो ।

२. न तो स्त्री, न पुत्र, न सगा भाई, न पिता, न माता और न ही बन्धु इस मनुष्य के साथ (परलोक में) जाते हैं । अत: हे मनुष्यो !....।

३. इस सम्पूर्ण चलायमान (अस्थिर) जड़ चेतन जगत् को, धन को और जवानी को विवेकपूर्ण दृष्टि से भली प्रकार शीघ्र देखभाल कर हे मनुष्यो !....।

—

हे प्रभो ! आप मुझमें विशिष्ट ज्ञान धारण कीजिये, जिससे मैं दु:ख रूपी सागर को तर सकूँ । हे संसार के धारक और पोषक प्रभो ! मैं प्रेमपूर्वक तुम्हारी भक्ति को सदा धारण करता रहूँ ॥१॥ (हे प्रभो) आपने हमारा यह विचित्र शरीर और दो प्रकार की इन्द्रियाँ उचित स्थान पर और उचित आवश्यकता के अनुरूप बनाई हैं । तुम्हीं हमारे पिता हो और इन सब वस्तुओं के दाता हो ॥२॥ अहो, हे सृष्टि को निरन्तर गति देने वाले प्रभो ! पृथिवी, जल, अग्नि आदि इन पञ्च भूतों को यथायोग्य रूप से रचकर तुम ही इसकी पालना करने वाले हो । हे (पुन: पुन:) सृष्टि को उत्पन्न करने वाले !

विभो ! मातः ! पितः ! भ्रातः ! सकल-संसारचर्कर्तः !
त्वमेव पालकः सोतः ! अहो आनन्दधीदातः ! ॥ ४ ॥
त्वदीयं शरणमापन्नो मदीयं छिन्धि भवबन्धम् ।
भरेयं भावनां शुद्धां, जयेयं मानसं ज्ञातः ! ॥ ५ ॥

—

गीतम्

श्रुतिभानूदयोयं-जगदानन्दयतीह नितान्तम् ॥ध्रुवम्॥
ध्वान्तमपास्य ततं जगतीदं, तनुते मोदमनन्तम् ।
अज्ञानाहतमानवचित्तं, ज्ञानविकासिसुशान्तम् ॥ श्रुतिभा० ॥ १ ॥
निद्राणं जनपङ्क्त्यरविन्दं, ध्वान्तनिशीह निशान्तम् ।
उन्निद्रं रचयन्नतितान्तं, भासयतीह भवान्तम् ॥ श्रुतिभा० ॥ २ ॥
सुन्दरकाव्य-महीरुहरम्यं, कृतकविकोकिलगीतम् ।
भाभिर्मण्डितमातन्वानः, सारस्वतविपिनान्तम् ॥ श्रुतिभा० ॥ ३ ॥
कविताम्भोरुहवृन्दमरन्दं, रसयन् रसिकमिलिन्दम् ।
स्तुतनृविहङ्गमचारुचरित्रः, सानन्दं हृदि शान्तम् ॥ श्रुतिभा० ॥ ४ ॥

सर्वव्यापक! माता पिता भ्राता तथा उत्पत्तिकर्ता एवं आनन्द और बुद्धि के दाता प्रभो! मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ, तुम मेरे संसार रूपी बंधन को काट दो । मैं सदा हृदय में शुद्ध भावों को भरता रहूँ और सर्वज्ञ देव ! मैं अपने मन को जीत लूँ ॥३-५॥

—

वेद-रूपी सूर्य का उदय इस जगत् को अत्यन्त आनन्दित कर रहा है । यह इस संसार में फैले हुए अज्ञान-अन्धकार को दूर करके असीम आनन्द को फैला रहा है और अज्ञान से दुःखी मानवों के चित्त को ज्ञान से प्रफुल्लित और शान्तियुक्त कर रहा है ॥१॥ यह, अविद्यान्धकार रूपी रात्रि में सोये हुए मानव-समाज रूपी कमल को इस नवजागरण रूपी उषा वेला में विकसित करता हुआ विश्व को प्रकाशित कर रहा है॥२॥ यह, सुन्दर काव्य रूपी तरुओं से मनोहर और कवि रूपी पुंस्कोकिलों से निनादित इस ज्ञानोद्यान को वेदप्रभा से आलोकित कर रहा है ॥३॥ कविता रूपी कमलावली के रस को रसिकभ्रमरों को चखाता हुआ, स्तुति किये गये मनुष्य रूपी पक्षियों के चरित्र को सुन्दर बनाने वाला वेद-सूर्य; मनुज-हृदयों में आनन्दमय शान्ति को (स्थापित कर रहा है) ॥४॥

पीताम्बरधरवर्णिवरेण्यं, गुरुकुलमात्मशरण्यम् ।
आत्मद्युतिभिर्विदधदमन्दं, मोदयुतं स सुकान्तम् ॥ श्रुतिभा० ॥ ५ ॥
निगममन्त्रसुमगन्धवहोऽयं, भुवने शान्ति-समीरः ।
मन्दमन्दमिह वहति वनान्तं, विदधत् सुमितलतान्तम् ॥ श्रुतिभा० ॥ ६ ॥
(प्र.सौ.१.३)

—

गीतिका

अवन्तु वरमतयः ! प्रजाः स्वाः सुतमिव नरपतयः ॥ध्रुवम्॥
समये समये सिञ्चतु मघवा । धरणिमिमामखिलाम् ।
निकामम्–धरणिमिमामखिलाम् ॥ अवन्तु० ॥ १ ॥
धान्यधनादिभिरम्बुधिरशना । कलयतु रुचिमतुलाम् ।
इलेयम्–कलयतु रुचिमतुलाम् ॥ अवन्तु० ॥ २ ॥
विद्याम्भोनिधितुङ्गतरङ्गैः । विदधतु धियममलाम् ।
बुधास्ते–विदधतु धियममलाम् ॥ अवन्तु० ॥ ३ ॥
सूक्तिसुधामकरन्दममन्दम् । रसयतु कविरखिलान् ।
नृभृङ्गान्–रसयतु कविरखिलान् ॥ अवन्तु० ॥ ४ ॥
श्रुतिसिन्धुस्थित-शान्ति-सुधापाः । सुखमरुदनुभविलाः ।
प्रजाः स्युः–सुखमरुदनुभविलाः ॥ अवन्तु० ॥ ५ ॥
परमानन्दकन्दपरमेन्द्रे । भवतु रता विमला ।
सुजनता–भवतु रता विमला ॥ अवन्तु० ॥ ६ ॥ (प्र.सौ.ष.अ.)

यह, पीतवस्त्रधारी ब्रह्मचारियों से सुशोभायमान और अपनी शरण में आये हुए गुरुकुल को अपनी ज्ञान-ज्योतियों से अतीव आनन्दित और सुप्रकाशित कर रहा है ॥५॥ उसी वेद-सूर्य के मन्त्र रूप पुष्पों के सुगन्ध को फैलाने वाला यह शान्तिभाव रूपी वायु, मानव-वनस्थली को उत्तम मनोभावना रूपी लताओं से सुशोभित करता हुआ, बह रहा है ॥६॥

—

उत्तम बुद्धि से युक्त राजा लोग अपनी प्रजा को पुत्रवत् पालें ॥ मेघ समय समय पर इस सम्पूर्ण भूमि को खूब जमकर सींचे ॥१॥ समुद्रपर्यन्त यह पृथिवी धान्य-धन आदि से अनुपम शोभा को धारण करे ॥२॥ विद्वान् लोग विद्या रूपी सागर की उच्च तरङ्गों से अपनी और अन्यों की बुद्धि को निर्मल करते रहें ॥३॥ कविजन समस्त मनुष्य रूपी भ्रमरों को सूक्तिसुधा रूपी पुष्परस को छकाकर चखाते रहें ॥४॥ वेद रूपी सागर के तट पर शान्ति रूपी अमृत का पान करने वाली प्रजाएँ सुख रूपी वायु का अनुभव करें ॥५॥ निर्मल मन वाली और उत्तम स्वभाव वाली जनता परमानन्द-कन्द परमेश्वर में लीन हो जावे ॥६॥

सूक्तिवर्णानुक्रमणिका

अस्यामनुक्रमणिकायां सूक्तीनामाद्यशब्दास्तत्समक्षे पृष्ठाङ्काश्च प्रदीयन्ते

अकर्मशी-	१७८	अधर्मं धर्म-	६१	अभिवाद-	१७४
अकालेऽति-	३४	अधर्मेण	४३	अभिवाद-	१०२
अक्रन्कर्म	२२	अधीत्य वि-	१३१	अभ्यङ्गम-	१००
अक्रोधना:	१२२	अध्यापिता:	९०	अभ्यङ्गोत्सा-	३५
अगाधेवि-	५५	अनग्निर-	१३१	अभ्युत्थान-	११५
अग्निहोत्रं	९८	अनन्तना-	१०	अभ्यूर्णोति	११
अग्निहोत्रं	१३०	अनर्थकं	१६५	अमानिन:	१२२
अग्ने तप:	१५१	अनाम्नाते-	४५	अमृतस्ये-	१७९
अग्ने व्रत-	६७	अनारोग्य-	३०	अरक्षिता-	१८५
अग्नौ प्रास्ता-	९८	अनार्यवृ-	१८०	अरावप्यु-	१२१
अङ्गं गलि-	१४३	अनिर्वेदं	१८७	अर्थकामे-	४४
अचोद्यमा-	२७	अनिर्वेद:	१२६	अर्थस्य सं-	११४
अच्छेद्योऽय-	१७	अनीर्षुर्गु-	१८०	अर्था: पाद-	४३
अज्ञानप्र-	१२९	अनुद्वेग-	१५२	अर्थागम:	१६४
अजानन्	१४१	अनुमन्ता-	७२	अर्थेन तु	१२४
अतिथिर्य-	१२०	अनुव्रत:	१०६	अर्धं भार्या	११३
अतिथीन-	८२	अनृतं पा-	१७०	अलब्धं चै-	१२५
अतिमानो-	८०	अनेकसं-	६५	अलुब्धा: शु-	१२२
अतिरस्कृ-	११४	अन्तरा प्रा-	१५१	अल्पं वा ब-	८९
अतिव्यय:	१२७	अन्तवन्त-	१७	अल्पानाम्	१६२
अतृणे प-	५०	अन्धीकरो-	७१	अवलिप्ते	१३८
अतोष्यन्	१०५	अन्यदीये	५२	अवशेन्द्रि-	२५
अत्यन्त-	१३९	अन्येषां च	९५	अवश्यम्	१४२
अत्यम्बुपा-	३१	अन्योन्यस्य	१०८	अवश्यमे-	२६
अत्यम्बु-	३२	अपत्यं ध-	११७	अवश्यमे-	२६
अत्र ते की-	९५	अपनीतं	१२७	अव्यसश्च	२२
अथ ये स-	१६३	अपहृत्या-	७५	अव्रतानाम्	१६६
अथात: स्वा-	१५४	अपां समी-	९७	अशितावं-	११८
अदान्त: पु-	५१	अपूजिता-	११७	अश्नीयात्	३०
अदेशका-	१२२	अप्रणोद्य:	११९	अश्रद्धा	४०
अद्भिर्गात्रा-	५४	अप्रियव-	८७	अश्वमेध-	६७
अद्यैव कु-	१६९	अभयं न:	८१	अष्टाविमा-	१६४
अधर्मं त-	६८	अभयं मि-	८१	अष्टौ गुणा:	१७३

अष्टौ गुणाः १८७
अष्टौ पूर्व- १८६
असंयता- १४५
असन्तुष्ट- १५०
असन्तोष- १५०
असुर्या ना- १६
असूयैक- ६६
असेविते- १९०
अस्तेयं ना- ५२
अस्तेयप्र- ५३
अस्माकं तु १५
अस्मिन्महा- १८९
अहं हि व- १०७
अहन्यह- १८८
अहमिन्द्रो- १०
अहिंसा प्रा- ७१
अहिंसा स- ७४
आक्रुश्यमा- १०३
आचम्य प्र- ९७
आचारः प- ७६
आचाराद् ७६
आचाराल्ल- ७६
आचार्यः क- ८८
आचार्यस्त्व- ८८
आढ्यो वापि १३७
आत्मन्निच्छ- ५७
आत्मन्यना- ५३
आत्मा नदी ५५
आत्मा नदी ५५
आत्मेन्द्रिय- १४४
आत्मौपम्ये- १४६
आदरेण १५७
आदित्यस्य १४०
आदेयस्य २६
आदौ तु मो- १५८
आधिव्याधि- ४२
आपत्सु मि- १७५
आपदां क- ५७
आमरणा- ८४
आयत्यां प्र- १२७
आयुः कल्लो- १५७
आयुःसत्त्व- ३०
आयुष्प्रदा- ६३
आरभन्ते ८५
आरोग्यमा- १६४
आर्यकर्म- ९२
आर्यपुत्र ! ११२
आर्षं धर्मो- ४५
आलस्यं म- ६६
आलस्यं म- १०१
आलस्यं हि १५९
आवेशः १४६
आशा नाम १४७
आसनाव- १२०
आसनाश- ११९
आसमुद्रा- ९५
आस्तां ताव- १०५
आहारस्य ३७
आहूताध्या- ९९
आ हैव सः १५३
इच्छेच्चेद् १३९
इज्याध्यय- ४६
इज्यायज्ञ- ७३
इत्यष्टवि- १४६
इत्येतद् ८०
इत्येवं श्रु- १५
इदं च त्वां ४२
इन्द्र क्रतुं २२
इन्द्रं मित्रं ९
इन्द्रियजयो- ५७
इन्द्रियाणां प्रस ५७
इन्द्रियाणां विच ५७
इन्द्रियाणां हि ६१
इन्द्रियाणि मनो ३३
इन्द्रियाणि जय ५८
इन्द्रियार्थे- ५७
इमां धियं १०२
ईर्ष्याभय- ३२
ईर्ष्यी घृणी १८६
उचितम- १७१
उच्चैर्भाष्यं २८
उत्तमस्या- ११९
उत्थायाव- १११
उत्पादक- ८८
उत्पादन- ११७
उत्साहव- १६८
उत्साहस- १२५
उदीरितो- ६२
उद्घटित- १८८
उद्यमेन १५९
उद्यानं ते १५९
उद्योगिनं १६०
उपनीय ८९
उपनीयतु ८८
उष्णमश्नो- ३१
ऊर्ध्वं प्राणाः १७४
ऊर्वोरोजः २७
ऋतस्य दा- ८८
ऋतावानः ८३
ऋत्विक्पुरो- १०४
ऋषयस्त- १३३
ऋषयो दी- ९६
ऋषीणां ना- १३३
एक एव ४१
एकः क्षमा- ४९

एक: शयी- १००
एके सत्पु- ८७
एको धर्म: १८२
एकोऽपि वे- ४५
एको वशी ११
एत एवा- ८०
एतमेके १०
एतां प्रकृ- २८
एतावज्ज- १७२
एवं च भाषते १०९
एवं भार्या १४२
एवं विशु- ३३
एष सर्वे- ११
एह्यश्मान- २७
ऐश्वर्यस्य ७७
क: कं शक्त: १८८
कट्वम्लल- ३०
कदर्थित- ४७
कदर्यमा- १८०
करे श्लाघ्य: ८६
कर्त्तव्यमा- ९३
कर्मजं बु- ६०
कर्मणां तु २४
कर्मणाम- १५६
कर्मण्येवा- २३
काक: कृष्ण: ९४
काकचेष्टो १०२
काच: काञ्च- १६८
कान्ताकटा- ४८
कान्तारेष्व- ११३
कामं क्रोधं १८
कारं कार- १३
कार्यायोजन- १२
काव्यशास्त्र- १६९
कासश्वास- ३९
किं तया क्रियते १०९
किन्नु मे स्या- २४
कुर्वन्नेवे- २२
कुलानि स- ७८
कुविवाहै: १०८
कुशिकस्य ९५
कृतज्ञम् १३६
कृतार्था: १६४
कृत्स्नो हि १७५
केचिद्वद- १४
केयूरा न ६५
को लाभो गु- १८२
को हि जाना- ४१
क्रियाणां ख- ११४
क्रुध्यन्तं न १३१
क्रोधशोक- ३४
क्रोधाद्भव- ६३
क्रोधो हर्ष- ९०
क्लृप्तकेश- १३१
क्वचिद् भूमौ २६
क्षन्तव्यमे- ५०
क्षमा वशी ५०
क्षमेदश- ४९
क्षान्तिश्चेत् १८९
क्षान्त्या शुध्य- ५४
क्षिप्रं विजा- ९१
क्षिप्रमाय- १२७
क्षीरेणात्म- १३५
गंगातीरे १४७
गतसारे १८८
गायन्ति सा- १९२
गीताध्यय- ३४
गुणवद- २५
गुणा: पूजा- १७३
गुणाश्च षट् ३०
गुणिगण- १०९
गुरूणामल्प- ३१
गुरोर्यत्र १०१
गृहस्थस्तु १२९
गोघ्ने चैव १६३
ग्रीष्मवर्ज्ये- ३४
ग्रीष्मे चादा- ३४
घृणी राजा १७७
चक्रिणो द- १०३
चतुर्भिर- ४६
चत्वार ए- ६८
चत्वारि क- १८४
चत्वार्याह १८४
चलचित्त- १३८
चलानि ही- ६२
चला लक्ष्मी: ४२
चाण्डाल: १४६
चातुर्वर्ण्यं १३२
चोदितो गु- १०१
जन्ममृत्यु- १४२
जरां कृच्छ्रे- ३३
जरा रूपं १९०
जलबिन्दु- १७६
जाड्यं धियो- १६८
जातस्य हि १८७
जायेदस्तम् ११३
जिता सभा ७७
जिह्वाया अ- ९४
ज्ञानं तप: ५३
ज्ञानविज्ञान- १४६
ज्ञानेन तु २०
ज्यायस्वन्त: १०७
ज्यैष्ठ्यं च मे ९७
ज्वलितं न १६७
तं विद्याद् १४४

तच्चक्षुर्दे- ७९
तत्त्वज्ञः स- ९२
तत्त्वावबो- १९
तत्रैकाग्रं १४५
तथा नित्यं १०८
तथैव मु- ९५
तदेतदु- ७४
तं दुर्दर्शं १९
तपः स्वध- १८९
तपसा दे- १५२
तपसा म- १५३
तपो निःश्रे- १५१
तपोमूलं १५२
तपोविशे- १३३
तप्तं तपो १९२
तस्मात्पापं ६१
तस्मात्पुरु- ३७
तस्मात्प्रमा- ७२
तस्मादेताः ११८
तस्माद्धर्मं ४२
तस्माद्यस्य ६१
तस्येदर्व- ९९
तानीन्द्रिया- १२८
ताम्रायःकां- ५४
तावज्जिते- ५८
तीर्थशौचं ५५
तीर्थादिसे- १९१
तृणानि भू- १०३
तृणानि भू- ११९
तृष्णातीसा- ३४
तेजोऽसि ते- १६७
तैजसानां ५४
त्यागः सत्यं १७३
त्याज्यं न धै- ४७
त्रय उप- २९
त्रिविधं कुक्षौ- ३१
त्रिविधं न- १८४
त्रैविद्यो हे- १६६
त्र्यम्बकं य- १५५
त्र्यायुषं ज- ७९
त्वङ्मांस- १४३
त्वमेकं श- १४
त्वरमाणः १८७
दक्षः श्रियं १७८
दमस्तेजः ५०
दमेन स- ५०
दमेन हि ५१
दया धर्म- ७५
दरिद्रान्भ- १२२
दश धर्मं १८७
दह्यन्ते ध्मा- १४८
दाक्षिण्यं स्व- ८५
दाक्ष्यं ह्यमर्षः ७१
दातव्यमि- १२१
दानधर्मं १२१
दानमध्य- १६७
दानं भोगो- १२५
दानेन प्रा- १२३
दानेन ल- १२३
दारिद्र्याद् १२७
दिक्काला- १५
दिनमपि १४३
दुःखार्त्तेषु १२७
दुःखितानी- ७५
दुःखेष्वनु- ६०
दुरन्वयं १५३
दुराचारो ७६
दुराराध्यः १५१
दुर्जनः प- १८१
दुर्जनेन १३९
दुर्वासना १९२
दूरादाह- १००
दूषितोऽपि १३२
दृते दृंह १३४
दृश्यन्ते हि ५६
दृष्टिपूतं ५४
दृष्ट्वाऽन्ध- ७५
देवगोब्रा- २९
देवतानां १८४
देवद्विज- १५२
देवस्य स- २२
देवो देवा- १३५
देशकाल- २५
देहप्रवृ- ७२
देहवृत्तौ ३५
देहस्य मो- १५७
दोषभीतेः १६०
दौर्मन्त्र्यात् १८१
द्यूतं च ज- १००
द्वावम्भसि १८३
द्वाविमौ क- १८३
द्वाविमौ पु- १८३
द्वाविमौ पु- १८३
द्वावेव न १८३
द्वे कर्मणी १८२
धनत्यागः १३९
धनानि भू- ४१
धन्या खलु ७०
धर्म एव ४२
धर्मं शनैः ४१
धर्मं प्रस- ४४
धर्मागतं ११०
धर्मार्थका- २७
धर्मार्थौ य- ८९
धर्मेण रा- ४४

धर्मेणाधि- ४५
धर्मो विद्धः १६६
धारणम् १५६
धारणाद्ध- ४६
धूमायन्ते- १६३
धृतिः क्षमा ४६
धृतिः शमः १२६
धृतिर्नाम ४९
धृत्या यया ४७
धैर्यं यस्य १४६
धैर्येण यु- ४७
ध्यायतो वि- ६२
न कार्येषु **११४**
न किरिन्द्र १०
न कुलं वृ- ७७
न गृहं गृ- ११३
न गृहं गृ- ११७
न गृहाणि ११६
न ग्राम्यमु- १३०
न चास्ति ३७
न चैनं स- ३८
न जातु का- १५०
न जायते १६
न जीवना- १८
न तद्रक्षां- ८०
न तन्मित्रं १३८
न तस्य कि- ३६
न दैवमि- १५९
न पञ्चसा- १८
न पण्डितः ९२
न प्राण १७
न भक्षय- ७३
न भूप्रदा- ७३
नमस्ते स- १४
नमस्यामो- २३
न मातरि १३७
नमो नम- ९०
नरो हिता- २८
नलिनी- १४४
नवद्वार- १८७
न वनिता १९३
न विश्वसे- १०४
न विषय- १३९
न वेगान्धा- ३२
न वै तेषां १६३
न वैरमु- ९३
न वै स्वयं ११९
न शरीरा- १९
न श्वःश्वम् १६९
नष्टप्रज्ञः ६२
न सङ्करे- १२४
न सन्दृशे ११
न सर्वे भ्रा- १०८
न साम र- १७१
न सा सभा १६६
न साहसै- १२५
न सीदन्नपि ४३
न स्वप्नेन १८१
न स्वे सुखे ९३
नहि ज्ञाने- २१
नहि धर्मा- १७०
न हृष्यति ५१
न हृष्यत्या- ९२
न ह्यतो ध- १०६
नाऽकृत्वा प्रा- ७२
नातः श्रीम- ४९
नाऽतन्त्री वा- ११२
नात्यशनतः १४५
नाऽदान्तस्य ५१
नाधर्मः ४३
नाऽप्राप्यम- ९१
नाभिषेको १७१
नामुत्र हि ४१
नास्ति बुद्धि- ६१
नास्ति सत्या- ६७
नित्यं स्नाता ११५
नित्यानित्य- १४०
नित्यो धर्मः ४२
निद्रायत्तं ३३
निद्रा तु से- ३५
निन्दन्तु नी- ४८
निपानमि- १५९
निमेषमा- १६१
नियतं कु- २४
निर्ममा नि- ५५
निर्लेपं का- ५४
निर्वाहित- १९१
निवर्त्तते १४४
निवृत्ता भो- १४१
निश्चित्य यः ९१
निषेवते ९०
नीचैः शय्या- १०१
नृचक्षसः १५५
नेत्रहीनः २१
नैतान् स्म १८६
नैनं छिन्द- १७
नोदकक्लि- ५६
नोदाहरे- १०१
नोद्गारस्य ३२
नो सोदरो १९१
नौर्हि वा ए- ९८
न्यायागतं- १२४
न्यायागत- १८३
पञ्च त्वानु **१८५**
पञ्चमेऽह- १८९

पञ्चाग्नय: १८५
पतिं या ना- ११४
पद्माकरं १५८
परद्रव्या- ५२
परिचरि- १२१
परित्यजे- ४३
परोक्षे का- १३९
पाखण्डिन: १२०
पापान्निवा- १३६
पापेभ्यो हि ६९
पितुरन्त:- १७९
पितृदेव- १३२
पितृभिर्भ्रा- ११७
पुत्रदारै: ४७
पूजनीया: ११७
पूजयेद- २९
पूजितं ह्य- २९
पूज्या लाल- ११७
पूर्वं कृता- १६४
पूर्वं कृता- १९१
पूर्वजन्म- १५९
पूर्वां सन्ध्यां ९६
पूर्वां सन्ध्यां ९६
पृथिवी रत्न- १५०
पृथोस्तु रा- ९५
प्रकाशव- ५३
प्रजनार्थं ११६
प्रजहाति ६०
प्रज्ञा प्रति- ५९
प्रत्यक्षादि- १३
प्रदानं प्र- ५६
प्रभावार्था- ४६
प्रभाव: शु- १२६
प्रमाया: प- १२
प्रमृष्टभा- ९२
प्रवृत्तवा- ९२
प्रवृत्तिं च ६१
प्रशासिता- १०
प्र सप्तगु- ५८
प्रसादे स- ६०
प्रस्तावस- ९३
प्राज्ञोपसे- १३६
प्राणसंश- ७५
प्राणं देवा: १४८
प्राणाघाता- १७४
प्राणात्यये ६८
प्राणा यथा ७५
प्राणायामं १४७
प्राणायामा: १४८
प्राणायामै: १४८
प्राणो विली- १४८
प्रात:प्रात: ९८
प्राता रत्नं १११
प्राप्ता जरा १९
प्राय: कन्दु- ९४
प्रारभ्यते ८५
प्रिया न्याय्या ८३
प्रेह्यभीहि १७२
बन्धुस्त्री- **१७५**
बलमारो- ३२
बलवान् २८
बलवानप्यश- ४३
बलवानपि- ७०
बलस्यार्धे- ३८
बालाग्रश- १६
बालो वा य- ११९
बुद्धिं लुम्प- १७०
बुद्धियुक्तो ६०
बुद्धिवृद्धि १५४
ब्रह्मचर्यस्य ३६
ब्रह्मचर्येण- ३६
ब्रह्म वै मृ- ३६
ब्रह्मारम्भे- ९९
ब्राह्मणस्वा- १८६
ब्राह्मे मुहू- १११
भक्तं च भ- **१८४**
भद्रं कर्णे- ७९
भद्रं भद्र- १०४
भयानां भ- १४
भवन्ति नम्रा- ८७
भवन्ति नम्रा- १५८
भाग्यवैष- २६
भार्यावन्त: ११३
भीमं वनं २५
भुक्तवान् ३९
भुक्तादौ ३२
भूर्भुव: स्व: ५८
भृत्यातिथि- १२०
भोगा न भु- १४२
भोगा मेघ- १४५
भोगास्तुङ्ग- १४३
भोगे रोग- १४०
मङ्गलाचा- **१०४**
मङ्गलाचा- १०८
मङ्गलाल- १२५
मण्डूकप- ६३
मतिरेव ५९
मतिर्वच: २८
मत्तेभकु- ३६
मत्या परी- १३५
मधुमन्मे ९४
मन:प्रसा- १५२
मनसा च ५६
मनसि व- ८७
मनसे चे- ९७

मनसोऽनु- ३५
मनस्यन्य- १७५
मनुजदे- १९३
मनोबुद्धि- १५६
मरुस्थल्यां १२३
मर्त्तव्यमि- ७२
महाकुली- ११६
मांसमूत्र- १६०
मातरं पि- १२८
मातापितृभ्यां १०४
मातापितृसह- १४३
मातृवत्प- ९३
मातेव र- ६४
मात्रयाऽप्य ३२
मात्रा स्वस्रा १०४
माद्यन्मित्र- १५७
मानेन र- १७९
मा नो अग्ने १३५
मा भ्राता भ्रा- १०६
मार्दवं स- ७९
मासपक्षो- १५१
मितं ददा- ११२
मितं भुङ्क्ते १०३
मित्रं प्रीति- १३७
मुदं विषा- १७८
मुन्यन्नैर्वि- १३०
मूढ जही- १५०
मूलमर्थ- १२६
मृतं शरी- ४१
मृद्घटव- ८४
मोक्षस्य का- १५६
मोक्षो रज: १५५
मोह एव १५६
य आतृण- १००
य आत्मदा- ९
य: कश्चित्क- १३६
य: पश्चात् २५
य: प्रीणये- १८१
य: श्रोत्रयो: ८८
य: सन्धार- ६९
य: समिधा ९९
य: समुत्प- ६९
य: समुत्प- ६९
य: समुत्प- ७०
य: सर्वत्रा- ६०
यं लब्ध्वा चा- १४४
यच्च काम- १४९
यच्च काम- १६५
यच्छेद्वाङ्- १९
यज्ञशिष्टा- ९८
यज्ञार्थात् २४
यतो मूल- १०५
यतो यत: ८१
यत्तु प्रत्यु- १२१
यत्र धर्मो १६६
यत्र नार्य- ११६
यथा काष्ठ १४२
यथा खनन् १०१
यथा द्यौश्च ८१
यथा यथा १५४
यथा यश: १६१
यथार्थक- ६८
यथा वायुं ११०
यथाशक्ति ९१
यथा सूर्य- ८१
यथैधांसि २१
यदन्ति य- ८१
यदाचर- २६
यदा तु म- ३३
यदा संह- ६०
यदि नित्य- १६१
यद् दुस्तरं १५२
यद् ब्राह्मणा ८२
यद्यदाच- २३
यद्यद्धि कु- १५३
यद्यप्यशीला ७८
यन्ति वा आ- १५३
यन्नागा म- ४४
यमर्थसि- ८५
यमाजीव- १९०
यमेव वि- ८९
यं मातापि- १०५
यया धर्म- ६१
यशा इन्द्र: १६०
यशो यश- १२९
यस्य न विपदि १०९
यस्त्वा हृदा १५५
यस्मात्त्रयो- ११०
यस्माद्विश्व- १३
यस्य कृत्यं ९०
यस्य कृत्यं ९१
यस्य दान- १६९
यस्य नास्ति ५९
यस्य प्रसा- ८४
यस्य शूर- १९०
यस्य संसा- ९१
यस्यार्थास्त- १२४
यस्यास्ति वि- १२३
यातयामं ३०
या तु भार्या ११५
या नारी सु- ११५
यां मेधां दे- ५८
यावत्स्वस्थ- १८
यावद्वित्तो- १४३
या वेदबा- १३२

युक्ताहार- १४५
येन देवा- १०७
येन द्यौरु- ९
ये याता: कि- ५९
येऽर्था धर्मे- १२४
येषां न वि- १७०
योगस्थ: कु- २४
योगे मोक्षे १४४
यो जित: प- ५७
योऽत्ति यस्य ७३
यो दत्त्वा १३१
योऽनधीत्य १३४
यो नोद्धतं १०३
यो नो रसं ५२
यो बन्धन- ७१
यो यजेता- ७३
यो यजेद- ६९
योऽर्थतत्त्व- ७०
रसायना- ७९
रहस्यभे- १३८
रागिण्यपि १५८
राजा घृणी १७७
रूपयौव- ६४
लोभ: प्रति- १२८
लोभश्चेद- १९०
लोभात्क्रोध: १२८
लोभात्क्रोध: १२९
लोभेन बुद्धि: १२८
लौकिकं वै- १७४
वनेऽपि दो- ११०
वने रणे २४
वनेषु च १३१
वयं येभ्यो १४१
वयं त्वां स्म- १५
वयमिह १४९
वयोरूप- ३८
वरं वनं १२४
वरं वन्ध्या १०९
वरं तुङ्गा- ७७
वरं मौनं १७६
वर्जयेन्म- १००
वशे कृत्वे- ५६
वाक्सूनृ- ८३
वाङ्म आस- २७
वाच्याऽवाच्यं ७०
वाञ्छा सज्ज- ८६
वायुरनिल- १६
वायुरनिल- ९६
वार्त्रहत्या- ९६
वासनानु- १४०
वासांसि जी- १७
विकारहे- ४८
वित्तं बन्धु- १०३
विघसाशी ३०
विदग्धम- ३८
विद्यां चाऽवि- ६३
विद्या ददा- ६४
विद्या नाम ६५
विद्या बृंह- ६४
विद्या ह वै ६६
विद्या ह वै ८९
विपदि धै- ८४
विवेक: किं १७९
विश्वो देव- १३५
वीर्यं बल- ३३
वृत्तं यत्ने- ७८
वृत्ततस्त्व- ७८
वृद्धि: प्रभा- १२६
वेद: स्मृति: ४५
वेदमेव १३४
वेदमेवा- १३३
वेदविद्या- १२०
वेदशब्दे- १३३
वेदा: प्रत्य- १३३
वेदाभ्यास: १५६
वेदा मे प- १३३
वेदोऽखिलो- ४४
वेनस्तत्प- ११
वैराग्यस्य १४०
व्यत्यस्तपा- १००
व्यसने वा- ४८
व्यायामं ३८
व्यायामक्षु- ३८
व्रजन्ति ते १८२
व्रतेन दी- ६७
शय्यासने १०२
शरीरस्य १७३
शरीराया- ३७
शरीरोप- ३७
शान्तं शुद्धं १४
शान्ता दान्ता: ८२
शास्त्रं प्रज्ञा १२६
शुचित्वम् १३६
शुचौ देशे १४५
शुभकृच्छु- २७
शुश्रूषा श्र- ५९
शोकाराति- १३७
शोचन्ति जा- १०८
शोचन्ति जा- ११८
शौचं च द्वि- ५३
श्रदिति स- ३९
श्रद्दधान: ६५
श्रद्धयाग्नि: ३९
श्रद्धया सा- ४०
श्रद्धयेष्टं ४०

श्रद्धावान् २१
श्रद्धावान् ४०
श्रद्धा चेतसः ३९
श्रमक्लम- ३७
श्रुतं प्रज्ञा- ९२
श्रुतिस्मृत्यु- ४५
श्रुतिस्मृत्यु- ७६
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा ५६
श्रूयतां ध- ४५
श्रेयस्तत्रा- ६८
श्रोत्रं श्रुते- १५८
श्लाध्यः सः ८४
षट्त्रिंश- २९
षडिमान् १८५
षडिमानि १८५
षडेव तु १७३
षडेव तु १८५
संयोजय- ६४
संसिद्धस्य १५७
संहतिः श्रे- १६२
सकलमे- १९३
सखायः प्र- ११३
संकथा ध- ८०
संगच्छध्वं १६२
सङ्ग्रहैक- १२३
स च शीते ३८
सतामुपा- १५६
सत्कृताश्च १३८
सत्त्वानुरूपा ४०
सत्यमेव ६८
सत्यमेवा- ८२
सत्यं ब्रूया- ६७
सत्यं भूते ८०
सत्यस्य व- ६८
सत्ये तप- १६०
सत्येन र- १७९
सत्येन ल- २०
सत्ये रता- ३६
सदा प्रह- ११४
सदा यज- ७३
सध्रीचीना- १०७
सन्तुष्टो भा- १०७
सन्तोषं प- १४९
सन्तोषामृ- १४९
सन्तोषो वै १५०
सन्त्यज्य ग्रा- १२९
सन्नियच्छ- १२६
स पर्यगा- ९
सप्त दोषाः १८६
सभां वा न १६६
समदोषः २८
समये च १६५
समागमः १६५
समाधिनि- १६५
समानी प्र- १०७
समानी वः १६२
समानो म- १६२
समिधामु- १९
समीक्ष्य कु- ३९
समुत्पत्तिं ७२
समृद्धा गु- १७३
सम्पत्सु म- ८६
सम्पदि य- ८४
सम्प्राप्तम- १६७
सम्प्राप्ताय ११९
सम्भोजनं १६२
सम्मार्जनो- ५४
स यः सत्यं ६७
सरस्वती- ९५
सर्वकर्म- ७२
सर्वथा १३८
सर्वद्रव्ये- ६६
सर्वं तु स- ४४
सर्वमेव १४८
सर्वं पर- १७२
सर्वलक्ष- ७६
सर्वव्यापि- १२
सर्वहिंसा- ७३
सर्वाः सम्प- १४९
सर्वाणि खलु- ५५
सर्वात्मा स- १६
सर्वान्परि- १५४
सर्वे क्षया- १४२
सर्वेषां तु १३४
सर्वेषामे- ५३
सर्वेषामे- १२२
स सन्धार्यः ११०
स स्निग्धो- १७७
सहसा वि- १७०
सहृदयं १०६
साङ्गांश्च च- १२२
साध्वीनां तु ११२
साध्वी शील- ११५
सापेक्षत्वा- १२
सा भार्या या ११३
सायंसायं ९७
सिंहः शिशु- १६८
सुखं च दुः- ४८
सुखं दान्तः ५०
सुखार्थिनः ६६
सुखार्थिनः १०२
सुजीर्णम- १७५
सुमहान्त्य- १२९
सुरा मत्स्या- १३४
सुवासिनीः १२०

सुविज्ञानं	२०	स्वधीतस्य	१८०	हर्षशोकौ	१२५
सेनापत्यं	१३२	स्वमांसं प-	७४	हविराज्यं	९९
सैव युक्ता	३४	स्वयं वाजि-	१७२	हस्ती स्थूल-	१६७
सोऽर्यमा स-	१०	स्वर्गो धनं	८९	हिंस्यात्क्रो-	७१
सोऽस्य दोषो-	४९	स्ववीर्यजी-	१३०	हितं जन-	८०
स्तब्धं मन:	१९२	स्वाध्यायाद्	१२	हिताशी स्या-	२९
स्तब्धस्य न	१७६	स्वाध्याये नि-	१३०	हीनाङ्गान्नति-	१०४
स्तविष्यामि	१०	स्वाभाविकं	१३८	हीयते हि	६२
स्तेयमशा-	५२	स्वास्तीर्णं	३५	हृदयेषु	१३३
स्त्रियां तु रो-	११८	**हरणं च**	१८४		
स्त्रियोऽक्षा:	१८६	हर्त्तुर्याति	६४	—	

लेखक की अन्य रचनाएँ

१. **दयानन्दवेदभाष्य-भावार्थप्रकाश (पूर्वखण्ड)**—इसमें स्वामी दयानन्द सरस्वती-कृत वेदभाष्य के समस्त संस्कृत-भावार्थों का सत्यार्थप्रकाश के समुल्लासों के विषयों के अनुसार वर्गीकरण है । ऊपर के कॉलम में मन्त्र दिये हैं । दूसरे कॉलम में मन्त्र-क्रमानुसार संस्कृत-भावार्थ हैं । नीचे (तीसरे कॉलम में) तदनुसार सुन्दर हिन्दी अनुवाद है । इस ग्रन्थ से, स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित सत्यसिद्धान्तों की, मन्त्रयुक्त मन्त्रभावार्थों से विस्तृत सम्पुष्टि हो गई है । अवश्यमेव पठनीय । अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिये अति उपयोगी । इस पूर्वखण्ड में छह समुल्लास हैं । पृष्ठ संख्या १०९० (१०७२+१८) । क्राउन साइज, गैट अप, कागज, छपाई बढ़िया । पक्की कपड़े की जिल्द । मूल्य : ३५० रुपये मात्र ।

२. **दयानन्दवेदभाष्य-भावार्थप्रकाश (उत्तरखण्ड)**—इस उत्तरखण्ड में अन्त के ८ समुल्लास हैं । अंतिम तीन समुल्लासों में पृथिवी, जल आदि के महत्त्व एवं गुण; विविध भौतिक विद्या-शिल्प-कलाकौशल-यन्त्र-यान-विमान; शरीर-स्वास्थ्य-वैद्य-चिकित्सा-औषधि आदि विषय हैं । अन्त में दोनों खण्डों के साढ़े सात हजार से अधिक मन्त्रों की वर्णानुक्रमणिका दी है । सर्वान्त में दोनों खण्डों के विषयों की वर्णानुक्रमणी भी दी है । कागज-छपाई-गैट अप उत्तम । पक्की कपड़े की जिल्द । पृष्ठ संख्या ८०८ । मूल्य : ३०० रुपये मात्र ।

३. **बुद्धिनिधि:**—बुद्धि में अपेक्षित सात गुणों की विस्तृत विवेचना । बुद्धि के गुणों के विकास के लिये बारह उपायों का विवरण । धी-प्रेरक, सुमतिदाता, मेधायाग की विधि एवं तदर्थ ६२६ मन्त्रों का संग्रह । डिमाई साइज । कागज, छपाई, गैट अप उत्तम। पृष्ठ संख्या २५९ । मूल्य : ७२ रुपये मात्र ।

४. **दयानन्द-दृष्टान्तनिधि:**—आरम्भ के पूर्वखण्ड में स्वामीजी द्वारा स्व-ग्रन्थों में